हिन्दी
साहित्य-सुषमा

सम्पादक

डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच्० डी०

प्रकाशक
किताब महल, इलाहाबाद
१९५८

निवेदन

प्रस्तुत संकलन विद्यार्थियों की साहित्यिक रुचि को परिष्कृत करने की दृष्टि से तैयार किया गया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास अबाध गति से हो रहा है और उसके विविध रूपों, शैलियों तथा प्रवृत्तियों का दर्शन होने लगा है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित होने के कारण हिन्दी के विविध साहित्य-रूपों से परिचित होना बहुत आवश्यक हुआ है। हिन्दी की प्रगति साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, राष्ट्रीय दृष्टि से भी महत्व-पूर्ण है। भारत की सांस्कृतिक, साहित्यिक, तथा राष्ट्रीय एकता को दृढ करने का कार्य भी हिन्दी को करना है। साहित्य अपने युग का दर्पण होता है और वह युग की विशेषताओं को लेकर आगे बढता है। हमे अपने विद्यार्थियों को युग के साथ ले चलना है। आज हमे विद्यार्थियों मे साहित्य के प्रति प्रेम निर्माण करने के साथ ही उनके चरित्र-निर्माण मे भी सहायता देनी है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति उसके श्रेष्ठ चारित्र्य बल पर ही निर्भर रहती है। इसलिये हमे देश के शिक्षा-क्रम मे ऐसी रचनाओं को सम्मिलित करना है, जो हमारे युवको और युवतियो मे जीवन की कठिनाइयो के साथ संघर्ष करने की शक्ति तथा प्रतिभा प्रदान कर सके। इस प्रकार हम अपने विद्यार्थियो का जीवन उच्चतर मनोभूमि पर प्रतिष्ठित करना है।

हमारे नवयुवको की आशा-आकांक्षाओं का चित्र सामने रखकर ही इस संकलन के हर एक विषय को चुना गया है। संकलन दो विभागों मे बांटा गया है—'गद्य-सुषमा' और 'काव्य-सुषमा'। 'गद्य-सुषमा' में प्रायः सभी रचनाएं लेखको की प्रतिनिधि-स्वरूपिणी तथा सहृदय पाठको मे साहित्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करने वाली है। इसमे कई नये लेखको की रचनाओं को भी स्थान दिया गया है। इनमें अधिकतर लेखक हिन्दी साहित्य के अग्रदूत है। 'काव्य-सुषमा' मे संग्रहीत रचनाओं मे कई प्राचीन कवियों की कृतियो को स्थान दिया गया है। आधुनिक कवियो की रचनाओं मे दो-चार उदीयमान कवियो की रचनाओं को भी रखा गया है। आज हिन्दी काव्य मे प्रयोगवाद की आवाज बहुत ही जोर से सुनाई देती है, परन्तु इसकी साहित्यिक

प्रगति का दर्शन कहीं दिखाई नहीं पड़ता। प्रयोगवादी कविताएँ हमारे जीवन में नये भावों और विचारों की सृष्टि करने का कार्य कर रही हैं। परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य में हमेशा नये-नये प्रयोग होते रहते हैं। 'प्रयोगवाद' की चर्चा से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य वादों के पीछे दौड़ रहा है।

संकलन का नामकरण करते समय हमने अपनी साहित्यिक रुचि का आदर्श सहृदय पाठकों के सामने रखा है। रचनाओं के शीर्षकों से भी इस बात का संकेत मिल सकता है। विषयों के चुनाव में भी हमारी सौन्दर्यानुभूति ही अधिक काम करती रही। इसलिए इस संकलन में साहित्य के अभिनव रूपों का समावेश हो सका। हमने तो अत्यधिक सावधानी तथा परिश्रम के साथ रचनाओं का चयन किया है। हम अपने इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुए हैं, यह देखना हिन्दी के विद्वान् प्राध्यापक तथा सहृदय पाठकों का कार्य है।

पुस्तक के अन्त में विद्यार्थियों का मार्ग-प्रदर्शन करने की दृष्टि से टिप्पणियाँ भी रखी हैं। परन्तु विद्यार्थियों को अपने कुशल तथा सुधी प्राध्यापकों से ही अधिक सहायता मिल सकती है। प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी इस संकलन की हर एक स्थापना पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट कर सकते हैं। टिप्पणियों के द्वारा प्रस्तुत किये विचारों को सम्पूर्ण सत्य के रूप में पाठकों के सामने रखने का हमारा हठ नहीं है। जिन आदरणीय लेखकों तथा कवियों ने अपनी रचनाओं को इस संकलन में सम्मिलित करने की अनुमति दी है उनके हम हृदय से आभारी हैं। मुख-पृष्ठ के कलाकार श्री सागर पाटील, बेलगाँव के प्रति भी हम अपना स्नेह प्रकट करते हैं। बहुत ही कम समय में यह पुस्तक तैयार करने में प्रकाशक श्री श्रीनिवास अग्रवाल जी ने जिस चतुराई का परिचय हमें दिया है इसकी भी प्रशंसा करना हमारा कर्त्तव्य है।

बेलगाँव
१५-२-१९५८

बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे

विषय-सूची

गद्य-सुषमा

काव्य-सुषमा

(प्राचीन कवि)

(आधुनिक रचनाएं)

टिप्पणियाँ

जीवन में साहित्य का स्थान

प्रेमचंद

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियादी मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नही, हमें मालूम नहीं; लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिल जाता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में; लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर एवं सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्साना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप भी हो सकता है, पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, बीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। बीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना बीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, बीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह बीभत्स होते हुए भी सुन्दर है; क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है--राजा

के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अन्दर, ऊषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नही। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता से और आडम्बर से कोसों दूर भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध है, अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो श्रृंगारहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों को झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है: एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से है। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीन हो भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनेक अनुसंधान की, और साहित्य के लिए विह्वलता की! विह्वलता एक प्रकार का आत्मसमर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं कर सकते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्री रामचन्द्र शबरी के जूठे बेर क्यों आनन्द से खाते हैं, कृष्ण भगवान बिदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं; इसीलिए कि

उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष हो गये हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये, देखें जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सब प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त और कुछ ओर भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जो हमारे मेल में सहायक होती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायेंगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रखते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है?।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़ कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है, बल्कि उस प्रवृत्ति की और हठ को ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है कि, बालक में जो सद्‌वृत्तियाँ हैं, उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप, से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्म-विकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्‌वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति, जैसे दुलार-चुमकार कर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर से कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश

असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी मार ले जाता है। यही कारण है कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक कथाएँ, तौरेत, कुरान, इंजील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रह मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानव-जाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदि-काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं। उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानों विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत् इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं। उसका मन

हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचार सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है, कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी **Harmony** प्राप्त कर ली हो, कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है, टाम काका की कुटिया, गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़ कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होगा, वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि कवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है; क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है; और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव से बुरे हैं वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो

सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ; पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें, पर यह असम्भव है कि करुणा और दया, प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है ? हमारा आशय दिल्ली में कत्ले-आम कराने वाले नादिर शाह से है। अगर दिल्ली का कत्ले-आम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्ले-आम को बन्द करने का हुक्म दिया था। दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शांत होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुंह लगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रख कर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

कसे न माँद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।।

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कत्ले-आम तुरन्त बन्द कर दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा और जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर नेपोलियन के सामने लाये और उसने पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन को आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंगलैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपञ्च या और परिस्थितियों

के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है। उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न कर के। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिये। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके पर्दे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं; पर अभी से संसार तंग आ गया है; पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वह स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर जा चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार-शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीद कर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम

न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणत: युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अन्धाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिरा कर ही उसकी जगह नया मकान बनवाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। यह मानव चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इन्जीनियर नहीं कहलाता। इन्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे का फ़ैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य में मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा

साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी!

—'साहित्य का उद्देश्य' से

समुद्र-सन्तरण

जयशंकर 'प्रसाद'

क्षितिज में नीले जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है। शान्त प्रदेश में शोभा की लहरियाँ उठ रही हैं। गोधूली का करुण प्रतिबिम्ब, बेला की बालुकामयी भूमि पर दिगन्त की प्रतीक्षा का आवाहन कर रहा है।

नारिकेल के निभृत कुञ्जों में समुद्र का समीर अपना नीड़ खोज रहा था। सूर्य लज्जा या क्रोध से नहीं, अनुराग से लाल, किरणों से शून्य, अनन्त रसनिधि में डूबना चाहता है। लहरियाँ हट जाती हैं। अभी डूबने का समय नहीं है। खेल चल रहा है।

सुदर्शन प्रकृति के उस महा-अभिनय को चुपचाप देख रहा है। इस दृश्य में सौन्दर्य का करुण संगीत था। कला का कोमल चित्र नील-धवल लहरों में बनता-बिगड़ता था। सुदर्शन ने अनुभव किया कि लहरों में सौर-जगत झोंके खा रहा है। वह इसे नित्य देखने आता; परन्तु राजकुमार के वेष में नहीं। उसके वैभव के उपकरण दूर रहते। वह अकेला साधारण मनुष्य के समान उसे देखता, निरीह छात्र के सदृश इस गुरु दृश्य से कुछ अध्ययन करता। सौरभ के समान चेतन परमाणुओं से उसका मस्तक भर उठता। वह अपने राजमन्दिर को लौट जाता।

सुदर्शन बैठा था किसी की प्रतीक्षा में। उसे न देखते हुए, मछली फँसाने का जाल लिये, एक धीवर कुमारी समुद्र-तट से कगारों पर चढ़ रही थी, जैसे पंख फैलाये तितली। नील भ्रमरी-सी उसकी दृष्टि एक क्षण के लिये कहाँ नहीं ठहरती थी। श्याम-सलोनी, गोधूली-सी वह सुन्दरी सिकता में अपने पदचिह्न छोड़ती हुई चली जा रही थी।

राजकुमार की दृष्टि उधर गिरी। सायंकाल का समुद्र-तट उसकी आँखों में दृश्य के उस पार की वस्तुओं का रेखाचित्र खींच रहा था। जैसे; वह जिसको

नहीं जानता था, उसको कुछ-कुछ समझने लगा हो, और वही समझ वही चेतना का एक रूप रख कर सामने आ गई हो। उसने पुकारा—"सुन्दरी!"

जाती हुई सुन्दरी धीवर-बाला लौट आई। उसके अधरों में मुस्कान, आँखों में व्रीडा और कपोलों पर यौवन की आभा खेल रही थी, जैसे नील मेघ-खण्ड के भीतर स्वर्ण-किरण अरुण का उदय।

धीवर-बाला आकर खड़ी हो गई। बोली—"मुझे किसने पुकारा?"

"मैंने।"

"क्या कह कर पुकारा?"

"सुन्दरी।"

"क्यों, मुझमें क्या सौन्दर्य है? और है भी कुछ, तो क्या तुमसे विशेष?"

"हाँ, मैं आज तक किसी को सुन्दरी कह कर नहीं पुकार सका था; क्योंकि यह सौन्दर्य-विवेचना मुझमें अब तक नहीं थी।"

"आज अकस्मात् यह सौन्दर्य-विवेक तुम्हारे हृदय में कहाँ से आया?"

"तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य-तृष्णा जाग गई।"

"परन्तु भाषा में जिसे सौन्दर्य कहते हैं, वह तो तुमसे पूर्ण है।"

"मैं यह नहीं मानता; क्योंकि फिर सब मुझी को चाहते, सब मेरे पीछे बावले बने घूमते। यह तो नहीं हुआ। मैं राजकुमार हूँ, मेरे वैभव का प्रभाव चाहे सौन्दर्य का सृजन कर देता हो, पर मैं उसका स्वागत नहीं करता। उस प्रेम-निमंत्रण में वास्तविकता कुछ नहीं।"

"हाँ, तो तुम राजकुमार हो! इसी से तुम्हारा सौन्दर्य सापेक्ष है।"

"तुम कौन हो?"

"धीवर बालिका।"

"क्या करती हो?"

"मछली फँसाती हूँ।"—कह कर उसने जाल को लहरा दिया।

"जब इस अनन्त एकान्त में लहरियों के मिस प्रकृति अपनी हँसी का चित्र दत्तचित्त हो कर बना रही है, तब तुम उसी के अंचल में ऐसा निष्ठुर काम करती हो।"

"निष्ठुर है तो, पर मैं विवश हूँ। हमारे द्वीप के राजकुमार का परिणय होने वाला है। उसी उत्सव के लिये सुनहली मछलियाँ फँसाती हूँ, ऐसी ही आज्ञा है।"

"परन्तु वह ब्याह तो होगा नहीं।"

"तुम कौन हो ?"

"मैं भी राजकुमार हूँ। राजकुमारों को अपने चक्र की बात विदित रहती है, इसीलिये कहता हूँ।"

धीवर-बाला ने एक बार सुदर्शन के मुख की ओर देखा, फिर कहा—

"तब तो मै इन निरीह जीवों को छोड़े देती हूँ।"

सुदर्शन ने कुतूहल से देखा, बालिका ने अपने अंचल से सुनहली मछलियों की भरी हुई मूठ समुद्र में बिखेर दी, जैसे जल-बालिका वरुण के चरण में स्वर्ण-सुमनों का उपहार दे रही हो। सुदर्शन ने प्रगल्भ होकर उसका हाथ पकड़ लिया, और कहा—

"यदि मैंने झूठ कहा हो, तो ?"

"तो कल फिर जाल डालूँगी।"

"तुम केवल सुन्दरी ही नहीं, सरल भी हो।"

"और तुम पंचक हो।" कहकर धीवर-बाला ने एक निःश्वास ली, और सन्ध्या के समान अपना मुख फेर लिया। उसकी अलकावली जाल के साथ मिलकर निशीथ का नवीन अध्याय खोलने लगी। सुदर्शन सिर नीचा करके कुछ सोचने लगा। धीवर-बालिका चली गई। एक मौन अन्धकार टहलने लगा। कुछ काल के अनन्तर दो व्यक्ति एक अश्व लिये आये। सुदर्शन से बोले—"श्रीमन् विलम्ब हुआ। बहुत-से निमन्त्रित लोग आ रहे हैं, महाराज ने आप को स्मरण किया है।"

"मेरा यहां पर कुछ खो गया है, उसे ढूंढ़ लूंगा, तब लौटूंगा।"

"श्रीमन्, रात्रि समीप है।"

"कुछ चिन्ता नहीं, अभी चन्द्रोदय होगा।"

"हम लोगों को क्या आज्ञा है ?"

"जाओ।"

सब लोग गये। राजकुमार सुदर्शन बैठा रहा। चाँदी का थाल लिये रजनी समुद्र से कुछ अमृत-भिक्षा लेने आई। उदाहरण सिन्धु देने के लिए उमड़ उठा। लहरियाँ सुदर्शन के पैर चूमने लगीं। उसने देखा, दिगंत-विस्तृत जलराशि पर कोई

गोल और धवल पाल उड़ाता हुआ अपनी सुन्दर तरणी लिए हुये आ रहा है। उसका विषय-शून्य हृदय व्याकुल हो उठा। उत्कट प्रतीक्षा––दिगंत गामिनी अभिलाषा––उसकी जन्मान्तर की स्मृति बनकर उस निर्जन प्रकृति में रमणीयता की––समुद्र-गर्जन में संगीत की––सृष्टि करने लगी। धीरे-धीरे उसके कानों में एक कोमल अस्फुट नाद गूँजने लगा। उस दूरागत स्वर्गीय संगीत ने उसे अभिभूत कर दिया। नक्षत्र मालिनी प्रकृति हीरे-नीलम से जड़ी पुतली के समान उसकी आँखों का खेल बन गई।

सुदर्शन ने देखा, सब सुन्दर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनकर सामने आती थी वह उसे हँसती हुई मोहनी और मधुर सौन्दर्य से ओत-प्रोत दिखाई देने लगी। अपने में और सब में फैली हुई उस सौन्दर्य की विभूति को देख कर सुदर्शन की तन्मयता उत्कण्ठा में बदल गई। उसे उन्माद हो चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चन्द्रमा की किरणें खेलें और वह हँसा करे। इतने में ध्यान आया उस धीवर-बालिका का। इच्छा हुई कि वह भी वरुण-कन्या-सी चन्द्र-किरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़ा। उसे ध्यान आया कि मुझे लौटा ले जाने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चंचल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।

बेला से दूर––चारों ओर जल––आँखों में वही धवल पाल, कानों में अस्फुट संगीत। सुदर्शन तैरते-तैरते थक चला था। संगीत और वंशी समीप आ रही थी। एक छोटी मछली पकड़ने की नाव आ रही थी। पास आने पर देखा धीवर-बाला वंशी बजा रही है। और नाव अपने मन से चल रही है।

धीवर-बाला ने कहा––आओगे?

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा––कहाँ ले चलोगी?

पृथ्वी से दूर जल-राज्य में; जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल, कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं सीधा आत्मविश्वास है; वैभव नहीं सरल सौन्दर्य है।

धीवर-बाला ने हाथ पकड़ कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी। ––'आकाश दीप' से

दीन-बन्धु ऐण्ड्रूज़

बनारसीदास चतुर्वेदी

सन् १९१४ की बात है। फर्रुखाबाद की पब्लिक लाइब्रेरी में अखबारों के पन्ने उलट रहा था कि 'माडर्न रिव्यू' में मि० सी० एफ० ऐण्ड्रूज का एक लेख नजर आया। उसमें महात्मा गाँधी जी का जिक्र था इसलिए उसे पढ़ने लगा। मि० एण्ड्रूज ने लिखा था——

"जब हमारा जहाज भूमि के किनारे पहुँचा तो हमें समुद्र-तट पर कितने ही हिन्दुस्तानी दीख पड़े। ये सब हम दोनों को—पियर्सन को तथा मुझे——लेने के लिए आये हुए थे। श्री पोलक को मैं पहचान गया, क्योंकि मैं उनसे दिल्ली में मिल चुका था। उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरा ख्याल था कि वे अब तक जेल में ही होंगे। मि० पोलक ने मुझसे कहा, 'सब नेता छूट गये हैं।' मैंने फौरन ही उनसे पूछा, 'गान्धी जी कहाँ हैं ?' महात्मा जी ने जो निकट ही खड़े हुए थे मुस्करा कर कहा, 'मैं ही गान्धी हूँ।' उनके दर्शन करते ही मेरे अन्तःकरण में यही प्रेरणा हुई कि उनकी चरण-रज अपने माथे से लगा लूँ। तुरन्त मैंने यही किया। महात्मा जी ने मन्द स्वर में कहा, 'कृपया ऐसा न कीजिये। ऐसा करना मुझे लज्जित करना है।' गांधी जी उस समय सफ़ेद धोती और कुर्ता पहने हुए थे और उनका सिर मुँडा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे शोक-सूचक चिह्न धारण किये हुए हैं।"

इस घटना का वर्णन करने के बाद श्री ऐण्ड्रूज ने लिखा था कि उनके इस कार्य पर दक्षिण अफ्रीका के गोरे पत्रों ने बड़ा बावैला मचाया था और एक वयोवृद्ध एडीटर साहब ने तो अपने आफिस में बुलाकर उन्हें एक एशियावासी के चरण-स्पर्श करने पर खासी डाँट भी बतलाई थी।

इस घटना को पढ़कर मैंने उसी दिन अपनी श्रद्धा के पुष्प दीनबन्धु ऐण्ड्रूज

के व्यक्तित्व पर अर्पित किये थे और तत्पश्चात् पच्चीस-छब्बीस वर्ष——जब तक वे जीवित रहे——मैं अपनी श्रद्धांजलि निरन्तर अर्पित करता रहा।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे ३ मई सन् १९१७ को कलकत्ते में कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जोरासंको वाले भवन पर हुआ था। 'प्रवासी भारतवासी' की भूमिका लिखाने के लिये मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। घंटे भर बातचीत करने के बाद उन्होंने पूछा, "क्या शान्तिनिकेतन नहीं देखोगे?" मैंने कहा, "क्यों नहीं? मैं तो उसे एक तीर्थस्थान समझता हूँ।" तत्पश्चात् मैं बोलपुर गया और कई दिन शान्तिनिकेतन में रहा। उसी समय सर्व-प्रथम गुरुदेव के भी दर्शन हुए थे। आज ३२ वर्ष बाद भी उन दिनों की मधुर स्मृति ज्यों की त्यों ताजा है। मि० ऐण्ड्रूज ने चार-पाँच घंटे मेरी पुस्तक के सुनने में व्यय किये और तत्पश्चात् तीन-चार घंटे उसकी भूमिका के लिखने में। इस प्रकार उनका उस दिन का सर्वोत्तम समय मेरे लिये ही व्यय हो गया। शान्तिनिकेतन के उस युग का क्या कहना, जब वहाँ गुरुदेव, बड़े दादा, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज, शास्त्री महाशय (पं० विधुशेखर भट्टाचार्य) और आचार्य क्षितिमोहन सेन विद्यमान थे। अब पहले तीन तो स्वर्गवासी हो चुके हैं और शेष दोनों महानुभाव वहाँ से अवकाश-प्राप्त कर चुके हैं।

तत्पश्चात् सन् १९२० में मुझे फिर शान्तिनिकेतन जाना पड़ा और इस बार मैं दीनबन्धु ऐण्ड्रूज के जीवन-चरित का मसाला संग्रह करने के उद्देश्य से वहाँ गया था। पन्द्रह जून की बात है। मैं प्रातःकाल के समय उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। उन्होंने कहा, "आज मैं तुम्हारे ही विषय में सोचता रहा हूँ।" मैंने विनयपूर्वक पूछा, "मेरे बारे में आपने क्या विचार किया है?" श्री ऐण्ड्रूज बोले, "मेरा विचार है कि तुम अपनी राजकुमार कालेज इन्दौर की नौकरी छोड़कर शान्तिनिकेतन चले आओ।" मैंने निवेदन किया, "मेरे वृद्ध माता-पिता हैं, कुटुम्ब है और फिर जीविका का प्रश्न भी है।"

श्री ऐण्ड्रूज ने उस समय बड़ी सहृदयतापूर्वक कहा, "अपने पिता जी से कहना ऐण्ड्रूज को मेरी जरूरत है।" इन शब्दों ने मेरे पैर ही उखाड़ दिये और मैं अपनी नौकरी छोड़कर अगस्त सन् १९२० में शान्तिनिकेतन पहुँच गया।

शान्तिनिकेतन में मुझे चौदह महीने तक दीनबन्धु ऐण्ड्रूज की सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा कर्तव्य था उनके प्रवासी भारतीय-सम्बन्धी कार्य में उनकी सहायता करना, पर किसी पर शासन करना मि० ऐण्ड्रूज के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल था और प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता देने में उनका दृढ़ विश्वास था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "तुम इसी 'वेणुकुंज' में इसी छप्पर के नीचे बैठकर मेरे विरोध में लेख लिख सकते हो। अपनी अन्तरात्मा के अनुसार जो भी ठीक जँचे वही लिखो।" जब मैं सात-साढ़े-सात बजे उनके स्थान 'वेणुकुंज' पर पहुँचा, वे दो-ढाई घंटे काम कर चुके होते थे। दोपहर को भी जब अन्य अनेक व्यक्ति विश्राम करते थे, मि० ऐण्ड्रज अपना काम बराबर जारी रखते थे। उनके काम के घंटे १४-१५ से कम कभी न होते और प्रतिदिन सर्वथा थककर जब वे कहते, "आज के दिन तो हम लोगों ने ठीक काम किया", तो मुझे अपने ऊपर लज्जा आती, क्योंकि मैं छ:-सात घंटे से अधिक काम कर ही नहीं पाता था। शाम के चार बजे का समय है। कागज और कलम लिए हुए लम्बी-लम्बी डग भरते हुए मि० ऐण्ड्रूज डाकखाने की ओर भागे जा रहे हैं। डाक निकलने का वक्त हो गया है, लेकिन चिट्ठियाँ लिखना अब तक समाप्त नहीं हुआ।

कभी वे आठ-आठ बार अपने ही लेख की प्रति करते हुए नजर आते थे, कभी घोर दोपहरी में इधर से उधर जाते हुए। बँगला में एक लोकोक्ति है—पागल कुत्ते और अँग्रेज ही दोपहरी में भागते हुए दृष्टिगोचर होते है। इस लोकोक्ति को सुनकर श्री ऐण्ड्रज खूब हँसते थे।

रात को एक बजा है। शान्तिनिकेतन में सर्वत्र सन्नाटा है। बिजली की रोशनी कभी को बन्द हो चुकी है, लेकिन 'वेणकुंज' में प्रकाश दीख पड़ता है। मेज पर डिट्ज लालटेन रखे हुए श्री ऐण्ड्रूज लेख लिख रहे हैं। क्यों? कल २५ तारीख है और 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक ने न्यूजीलैंड के प्रवासी भारतीयों के विषय में लेख माँगा है।

बाँस के वृक्षों के निकट एक छोटा-सा खर है। न उसमें कुछ सजावट है, न दिखावट। समाचार-पत्रों का ढेर लगा हुआ है और किताबें तितर-बितर इधर की उधर पड़ी हैं। तीन चार कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं और कुछ मूढ़े भी। एक-दो कुर्सियाँ

तो ऐसी हैं जिन पर बैठना खतरे से खाली नहीं। एक कुर्सी का निर्बल शरीर किसी रस्सी के बल पर थमा हुआ है। मेज पर कोई कपड़ा नहीं। उस पर माता-पिता के चित्र रखे हुए हैं। शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियों के भेंट किये हुए फूल भी हैं। दावात, होल्डर, चाकू, किताब, अखबार और छोटा-सा सन्दूक भी उसी पर रखा हुआ है। समाचार-पत्रों के इस गड़बड़ समुद्र में श्री ऐण्ड्रूज का चश्मा खो गया है और घबराये हुए आप इधर-उधर तलाश कर रहे हैं। पूछते हैं, "तुमने हमारा चश्मा तो नहीं देखा?"

एक बार जब गाँधीजी कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस के बाद शान्तिनिकेतन पधारे थे, नियमानुसार मि० ऐण्ड्रूज का चश्मा खो गया। घबराते हुए वे गान्धी-जी के कमरे में आये और बोले, "मैं आपसे बातचीत करने आया था, कही मेरा चश्मा तो नहीं रह गया?" मौलाना शौकत अली के चश्मे का घर वहीं रखा हुआ था। गाँधी जी ने मि० ऐण्ड्रूज से कहा, "देखिये, यह तो नहीं है?" मि० ऐण्ड्रूज ने चश्मा निकालकर लगा लिया और कहा, "हाँ, बस यही है।" फिर आपने उस चश्मे के घर में रखा हुआ एक तार देखा, जो मौलाना के नाम था। तब आप बोले, "यह चश्मा मेरा नही है। यह तो मौलाना शौकत अली का होगा।" गाँधी जी और पूज्य कस्तूरबा इत्यादि जो भी व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, खूब खिलखिलाकर हँसने लगे। फिर बा ने एक चश्में का घर देते हुए कहा, "देखो, इसमें तो नहीं है तुम्हारा चश्मा।"

श्री ऐण्ड्रूज ने चश्मे का घर खोला तो उसमें कोई चश्मा था ही नहीं। वह खाली था। श्री ऐण्ड्रूज लज्जित हो गये और फिर अट्टहास हुआ! गाँधीजी को खूब हँसते हुए देखकर मि० ऐण्ड्रूज बोले, "मेरा तो चश्मा खो गया है और आप लोग हँस रहे हैं! इसमें हँसने की कौन-सी बात है?" गान्धीजी ने फिर हँसकर कहा, "चश्मा तुम्हारा खो गया है, हमारा नहीं। हमारे लिये तो यह हँसी की बात ही है।"

एक बार मि० ऐण्ड्रूज को ज्वर आ गया; पर उस दशा में भी उन्हें विश्राम कहाँ! उन्होंने बोलकर तीस-बत्तीस पत्र लिखा डाले!

यह देखकर अत्यन्त दुःख होता था कि बहुत दिनों तक हमारे देशवासी मि० ऐण्ड्रूज को ब्रिटिश सरकार का खुफ़िया ही समझते रहे और उधर भारत

२

सरकार भी उन पर निरन्तर अविश्वास ही करती रही। जहाँ कहीं वे जाते सी० आई० डी० के आदमी उनका पीछा करते। सन् १९०७ में उन्होंने खुद एक आदमी को, जो खुफिया पुलिस था, रँगे हाथ पकड़ लिया। वह उनकी मेज की दराज में हाथ डाले हुए था। जब मि० ऐण्ड्रूज ने उसे धमकाया तो डर कर उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया कि पुलिस विभाग ने उसे भेजा था जब कि ऐण्ड्रूज ने दिल्ली के कमिश्नर साहब को इस बारे में क्रोधपूर्ण पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया, "वह आदमी मेरी पुलिस का नहीं था।"

पूर्व अफ्रीका में तो रेल-यात्रा के समय एक स्टेशन पर गोरे लोगों ने मि० ऐण्ड्रूज की बड़ी दुर्दशा की थी। उनको अपने डिब्बे से घसीटकर वे प्लेटफार्म पर लाना चाहते थे और मि० एण्ड्रूज ने लोहे की जंजीर पकड़ रखी थी। उनकी दाढ़ी पकड़कर खूब नोची गई। इस दुर्घटना से उन्हें ज्वर हो आया था। बाद को यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लमेंट में भी उठाया गया था।

शान्तिनिकेतन में भी कितने ही व्यक्ति मि० ऐण्ड्रूज पर अविश्वास करते थे और महात्माजी ने इस अविश्वास को अनेक अंशों में दूर किया था।

एक बार पूर्व अफ्रीका के 'डेमोक्रेट' नामक भारतीय पत्र ने मि० ऐण्ड्रूज पर यही नीचतापूर्ण आक्षेप इतने भद्दे ढंग पर किया था कि वे तिलमिला उठे थे। फिर अमेरिका में भी यही हुआ था। पर वे इस निन्दा के अभ्यस्त हो चुके थे और उन्होंने उसे शान्तिपूर्वक सहने का ही प्रयत्न किया। फरवरी १९३० में उन्होंने अपने पत्र में मुझे लिखा था——

"दरअसल लोगों में मेल-जोल करना बहुत ही मुश्किल काम है। पर यह किसने कहा था कि यह आसान होगा? मैंने अपने ऊपर किये हुए इस आक्षेप के बारे में किसी को नहीं लिखा, क्योंकि उसे भुला देना ही ठीक होगा। दुर्भाग्य की बात है कि इस प्रकार के आक्षेप से महान अहित होगा, यद्यपि अन्त में इससे कुछ भलाई ही होगी। मुझे एक बात की खुशी है, वह यह कि इस बार मैं वैसा उद्विग्न नहीं हुआ, जैसा पूर्व अफ्रीका के 'डेमोक्रेट' वाले मामले में हुआ था। इस बार मैं धैर्य धारण कर सका और शान्त भी रहा और गीता तथा 'निष्काम कर्म' की महिमा को इस बार मैंने बेहतर तौर पर समझा।"

इस प्रकार के अविश्वासमय वातावरण में मि० ऐण्ड्रूज़ को बहुत वर्षों तक काम करना पड़ा। उनके जीवन के पूरे ३६ वर्ष भारत-भूमि की सेवा करते हुए बीते। यदि उनकी समस्त सेवा का पूरा-पूरा विवरण तैयार किया जाय तो भारत के इने-गिने नेताओं को छोड़कर मि० ऐण्ड्रूज का कार्य किसी से भी पीछे न रहेगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ भारतीय नेता स्वदेश के लिए तप और त्याग कर रहे थे, श्री ऐण्ड्रूज़ ने मनुष्यता के उच्चतर धरातल पर इस भूमि की सेवा की थी।

सन् १९२० में गान्धी जी ने भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़ की भूमिका में लिखा था——"यदि धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपना यह विश्वास लिपिबद्ध कर देना चाहता हूँ कि सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ से ज्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारत-भक्त इस भूमि में कोई दूसरा देशसेवक विद्यमान नहीं।"

हमारे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी आत्मचरित में बड़ी श्रद्धापूर्वक इस बात का जिक्र किया है कि मि० ऐण्ड्रूज़ की पुस्तक 'इण्डियन इण्डिपेंडेस-इट्स इमीडिएट नीड' (भारतीय स्वाधीनता और इसकी तुरन्त आवश्यकता) ने भारतीय भावनाओं को बड़ी खूबी के साथ प्रकट करके भारतीयों की हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया था।

यह बात भी भूलने की नहीं है कि दो बार मि० ऐण्ड्रूज़ ने महात्मा जी के उपवास के दिनों में उनके प्राण बचाने में बड़ी भारी सहायता दी थी। जब बन्धुवर श्री श्रीराम शर्मा ने सेवाग्राम में महात्माजी से पूछा; "ऐण्ड्रूज साहब ने भारत की जो सेवाएँ की हैं, उनमें मुख्य क्या हैं?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे पास अवकाश हो तो मैं उसका गुणगान जिन्दगी भर करूँ।"

जनवरी सन् १९४० में मुझे शान्तिनिकेतन जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तुलसी लाइब्रेरी के मंत्री धावलेजी मेरे साथ थे। इस बार मैंने अपने कैमरे से दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के कई चित्र लिये थे। अकस्मात् एक दिन मेरे मुँह से निकल गया, "आज तो मेरा जन्म-दिवस है।" मैं यों ही मजाक कर रहा था, यद्यपि था वह जन्म-दिवस ही । मि० ऐण्ड्रूज़ बोले, "तो मैं तुम्हें अच्छी चाय पिलाऊँगा और कुछ भेंट भी दूँगा।" मैंने इसे मजाक ही समझा पर मि० ऐण्ड्रूज़ ने सचमुच बहुत बढ़िया चाय बनवाई और उसके साथ मिठाई और

फलों का भी प्रबन्ध किया। मुझे अपने मज़ाक़ पर लज्जित होना पड़ा, पर चौबे होने के कारण मैं मिठाई का मोह छोड़ नहीं सका। मैंने डटकर भोजन किया। उस दिन भी मि० ऐण्ड्रूज़ दिन भर एक लेख लिखते रहे, जो शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन पर था और जब शाम को मैं पहुँचा तो कहा, "यह भेंट तुम्हारे जन्म-दिवस के लिये है।" फिर एक दूसरी भेंट भी दी, वह थी 'क्राइस्ट इन साइलेंस' ('शान्ति में ईसा') नामक अपनी पुस्तक।

अपनी भूल से मैं उस ग्रंथ को उनकी मेज पर ही छोड़ आया। रात को साढ़े आठ बजे थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा बन्धुवर हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के साथ मैं हिन्दी-भवन में बैठा हुआ था कि उधर से लालटेन हाथ में लिये श्री ऐण्ड्रूज़ आते हुए नजर आये। पहुँचते ही उन्होंने उलाहना दिया कि अपनी भेंट तुम वहीं छोड़ आये थे! और फिर द्विवेदीजी को मेरे जन्म-दिवस की बात भी सुना दी। द्विवेदीजी को भी मज़ाक़ सूझा। वे बोले, इन्होंने हमें बताया भी नहीं, चुपचाप सब मिठाई खा ली!"

खूब हँसी हुई। मेरी छड़ी वहीं रखी थी। श्री ऐण्ड्रूज़ ने उसे उठाकर पीठ पर छुआते हुए कहा—"यह भूल तुमने क्यों की? अपने जन्म-दिवस की बात इनसे क्यों छिपाई?" हम सब खूब हँसते रहे।

अपनी लालटेन लिये हुए मि० ऐण्ड्रूज़ अपनी कुटी को लौट गये। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कहा, "कितने प्रेमी जीव हैं ये!" मैं उन्हें जाते हुए देख रहा था। वही उनके अन्तिम दर्शन थे। उस दिन १२ जनवरी थी। ५ अप्रैल १९४० को उनका देहान्त हो गया।

'संस्मरण' से

पाप के चार हथियार !

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

जार्ज बर्नार्ड शॉ का एक पैराग्राफ पढ़ा है। वह उनके अपने ही सम्बन्ध में है; "मैं खुली सड़क पर कोड़े खाने से इसलिये बच जाता हूँ कि लोग मेरी बातों को दिल्लगी समझ कर उड़ा देते हैं। बात यूँ है कि मेरे एक शब्द पर भी वे गौर करें, तो समाज का ढाँचा डगमगा उठे।"

"वे मुझे बर्दाश्त नहीं कर सकते, यदि मुझ पर हँसें नहीं। मेरी मानसिक और नैतिक महत्ता लोगों के लिये असहनीय है। उन्हें उबाने वाली खूबियों का पुंज लोगों के गले के नीचे कैसे उतरे? इसलिए मेरे नागरिक बन्धु या तो कान पर उँगली रख लेते हैं या बेवकूफी से भरी हँसी के अम्बार के नीचे ढक देते हैं मेरी बात।"

शॉ के शब्दों में अहंकार की पैनी धार है, यह कहकर हम इन शब्दों की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि इनमें संसार का एक बहुत ही महत्वपूर्ण सत्य कह दिया गया है।

संसार में पाप है, जीवन में दोष, व्यवस्था में अन्याय, व्यवहार में अत्याचार और इस तरह समाज पीड़ित और पीड़क के वर्गों में बँट गया है। सुधारक आते हैं, जीवन की इन विडम्बनाओं पर घनघोर चोट करते हैं। विडम्बनाएँ टूटती-बिखरती नजर आती हैं, पर हम देखते हैं कि सुधारक चले जाते हैं और विडम्बनाएँ अपना काम करती रहती हैं।

आखिर इसका रहस्य क्या है कि संसार में इतने महान् पुरुष,सुधारक, तीर्थंकर, अवतार, सन्त और पैगम्बर आ चुके, पर यह संसार अभी तक वैसे का वैसा ही चल रहा है। इसे वे क्यों न बदल पाये? दूसरे शब्दों में जीवन के पापों और विडम्बनाओं के पास वह कौन-सी शक्ति है, जिससे वह सुधार के इन शक्तिशाली आक्रमणों को झेल जाते हैं और टुकड़े-टुकड़ होकर बिखर नहीं जाते?

शाँ ने इसका उत्तर दिया है कि मुझ पर हँस कर और इस रूप में मेरी उपेक्षा करके वे मुझे सह लेते हैं। यह मुहावरे की भाषा में सिर झुका कर लहर को ऊपर से उतार देना है।

शाँ की बात सच है, पर यह सच्चाई एकांगी है। सत्य इतना ही नहीं है। पाप के पास चार शस्त्र हैं, जिनसे वह सुधारक के सत्य को जीतता या कम से कम असफल करता है। मैंने जीवन का जो थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है उसके अनुसार पाप के यह चार शस्त्र इस प्रकार हैं—

उपेक्षा, निन्दा, हत्या और श्रद्धा।

सुधारक पापों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द करता है तो पाप और उसका प्रतिनिधि पापी समाज उसकी उपेक्षा करता है, उसकी ओर ध्यान नहीं देता और कभी-कभी कुछ सुन भी लेता है तो सुनकर हँस देता है, जैसे वह किसी पागल की बड़ हो, प्रलाप हो। इन क्षणों में पाप का नारा होता है। —"अरे, छोडो इसे और अपना काम करो।"

सुधारक का सत्य उपेक्षा की इस रगड़ से कुछ तेज होता जाता है, उसके स्वर अब पहले से कुछ पैने हो जाते हैं और कुछ ऊँचे भी।

अब समाज का पाप विवश हो जाता है कि वह सुधारक की बात सुने। वह सुनता है और उस पर निन्दा की बौछारें फेंकने लगता है। सुधारक सत्य और समाज के पाप के बीच यह गालियों की दीवार खड़ी करने का प्रयत्न है। जीवन के अनुभवों की साक्षी है कि सुधारक के जो जितना समीप है, वह उसका उतना ही बड़ा निन्दक होता है। यही कारण है कि सुधारकों को प्रायः क्षेत्र बदलने पड़े हैं। मुहम्मद को मक्का से मदीना इसीलिए तो जाना पड़ा था।

इन क्षणों में पाप का नारा होता है—

"अजी बेवकूफ है; लोगों को बेवकूफ बनाना चाहता है।"

सुधारक का सत्य निन्दा की इस रगड़ से और भी प्रखर हो जाता है और अब उसकी धार चोट ही नहीं करती, काटती भी है।

पाप के लिए यह चोट अब धीरे-धीरे असह्य हो उठती है और वह बौखला उठता है। अब वह अपने सबसे तेज शस्त्र को हाथ में लेता है। यह शस्त्र है हत्या।

सुकरात के लिए यह जहर का प्याला है, तो ईसा के लिए सूली, दयानन्द के लिए यह पिसा काँच है, तो गाँधी के लिए गोली।

इन क्षणों में पाप का नारा होता है—"ओह, मैं तुम्हे खिलौना समझता रहा और तुम साँप निकले, पर मैं साँप को जीता नहीं छोड़ूगा—पीस डालूँगा।"

सुधारक का सत्य हत्या के इस घर्षण से प्रचण्ड हो उठता है। शहादत उसे ऐसी धार देती है कि सुधारक के जीवन में उसे जो शक्ति प्राप्त न थी, अब हो जाती है। सूर्य का ताप और प्रकाश उसमें समा जाता है, बिजलियों की कड़क और तूफानों का वेग भी।

पाप काँपता है और उसे लगता है कि इस वेग में वह पिस जायगा—बिखर जायगा। तब पाप अपना ब्रह्मास्त्र तौलता है और तौलकर सत्य पर फेंकता है। यह ब्रह्मास्त्र है श्रद्धा।

इन क्षणों में पाप का नारा होता है—

"सत्य की जय, सुधारक की जय!"

अब वह सुधारक की चरण-वन्दना करने लगता है और उसके सत्य की महिमा का गान और बखान।

सुधारक होता है करुणाशील और उसका सत्य सरल, विश्वासी। वह पहले चौंकता है, फिर कोमल पड़ जाता है और तब उसका वेग पड़ जाता है शान्त और वातावरण में छा जाती है सुकुमारता।

पाप अभी तक सुधारक और सत्य के जो स्तोत्र पढ़ता जा रहा था, उनका करता है यूँ उपसंहार—"सुधारक महान् है, वह लोकोत्तर है, मानव नहीं; वह तो भगवान् है, तीर्थंकर है, अवतार है, पैगम्बर है, सन्त है। उसकी वाणी में जो सत्य है, वह स्वर्ग का अमृत है। वह हमारा वन्दनीय है, स्मरणीय है, पर हम पृथ्वी के साधारण मनुष्यों के लिए वैसा बनना असम्भव है, उस सत्य को जीवन में उतारना हमारा आदर्श है, पर आदर्श को कब, कहाँ कौन पा सकता है?"

बस इसके बाद उसका नारा हो जाता है—"महाप्रभु सुधारक वन्दनीय हैं; उनका सत्य महान् है, वह लोकोत्तर हैं।"

यह नारा ऊँचा उठता रहता है, अधिक से अधिक दूर तक उसकी गूँज फैलती रहती है, अधिक से अधिक लोग उसमें शामिल होते रहते हैं, पर अब सब का

ध्यान सुधारक में नहीं, उसकी लोकोत्तरता में समाया रहता है; सुधारक के सत्य में नहीं, उसके सूक्ष्म अर्थों और फलितार्थों के करने में जुटा रहता है।

अब सुधारक के बनने लगते हैं, स्मारक और मन्दिर और उसके सत्य के ग्रन्थ और भाष्य।

बस यहीं सुधारक और उसके सत्य की पराजय पूरी तरह हो जाती है।

पाप का यह ब्रह्मास्त्र अतीत में अजेय रहा है और वर्तमान में भी अजेय है। कौन कह सकता है कि भविष्य में कभी कोई इसकी अजेयता को खण्डित कर सकेगा या नहीं?

—'बाजे पायलिया के घुँघरू' से

प्यार की नींव

यशपाल जैन

वैसे उनका नाम तो था रहमतउल्ला खाँ, लेकिन छोटे-बड़े सब उन्हें 'मौलवी साहब' कहकर पुकारते थे। थोड़ी-सी आबादी की बस्ती थी। कोई विशेष बात उसमें नहीं थी—न पक्की सड़क, न बिजली, न शफ़ाखाना; फिर भी मौलवी साहब को उस गाँव से बड़ी मुहब्बत थी। कारण कि उनका जन्म वहीं हुआ था और वहीं की मिट्टी में खेल कूदकर वह बड़े हुए थे। उनके विशेष अनुराग को एक और भी वजह थी। वह यह कि उनका इकलौता बेटा करीम भरी-पूरी उम्र में वहीं उनसे हमेशा के लिए बिछुड़ा था और उसकी स्मृति में उन्होंने एक छोटी-सी यादगार गाँव-बाहर बनवा दी थी। सो नहर की अफसरी से जब उन्हें अवकाश मिला तो उन्होंने उसी गाँव में एक मदरसा खोल दिया और बड़े प्यार से बच्चों को पढ़ाने लगे। बच्चों से मौलवी साहब को बड़ा स्नेह था और बच्चे भी उन्हें प्यार करते थे। दौड़कर उनकी चिलम भर लाना, खेत से साग-सब्जी ले आना और तीज-त्योहार पर उनके लिए बढ़िया-बढ़िया पकवान बनवाकर ले आने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। मौलवी साहब का बोल मीठा था और बच्चों के प्रति उनका व्यवहार बड़ा ही हार्दिक था। भले ही क्यों वह कैसी भी गलती न कर डालें; लेकिन क्या मजाल कि मौलवी साहब के मुँह से एक भी तेज शब्द निकले, हाथ उठाने की बात तो दूर रही! बच्चों के गुरु होने के कारण वह सारे गाँव के आदरणीय और कृपापात्र बन गए थे। वैसे भी उनका घराना बड़ा अच्छा था और जब करीम की मृत्यु हुई थी, आधे से ज्यादा गाँव साथ गया था।

धीरे-धीरे बरसों बीत गए। इस बीच मौलवी साहब की बीबी भी चल बसीं और करीम के नजदीक ही मौलवी साहब ने दर्द भरे दिल से एक छोटा-सा स्मारक फातिमा बेगम के लिए भी बनवा दिया। चोट पर चोट लगी; लेकिन मौलवी साहब का मदरसा बराबर चलता रहा। दुःख आदमियों को नजदीक लाता है। मौलवी साहब भी उस गाँव के निवासियों के अभिन्न अंग बन गए।

कुछ और बरस इस तरह गुजरे और मौलवी साहब के सिर के दाढ़ी-मूछों के बाल सन-जैसे सफेद हो गये।

अचानक देश में सम्प्रदायिकता की आग भभक उठी। चारों ओर मारकाट और लूटपाट के अमानुषिक दृश्य दीखने लगे। हर जगह भय और आतंक छा गया। कल तक जो मित्र थे, वे दुश्मन बन गए और एक दूसरे की जान लेने पर उतारू हो गए। जिधर देखो उधर ही दर्दनाक बातें दीखने लगीं। शहरों की आग की लपटें देहातों में भी पहुँचीं और मौलवी साहब ने देखा कि उनके गाँव का रुख भी बदलता जा रहा है। इससे उन्हें रत्ती भर चिन्ता न हुई। उसी प्यार और मुहब्बत से बच्चों को पढ़ाते और गाँव वालों के साथ पेश आते रहे।

एक रोज रात को मौलवी साहब खा-पीकर चारपाई पर बैठे हुक्का पी रहे थे कि मुखिया का एक लड़का आया और बन्दगी करके खड़ा हो गया। मौलवी साहब ने सहज भाव से पूछा, "क्या है, बेटा देवी?" देवी के मुँह से सहसा बात नहीं निकली। तब मौलवी साहब ने फिर कहा, "कहो बेटे, क्या बात है?"

देवी अब अपने को न रोक सका और फूट-फूट कर रोने लगा। मौलवी साहब आश्चर्यचकित रह गये। हुक्के को एक ओर सरका कर उन्होंने देवी को अपनी ओर खींच लिया और उसकी पीठ थपथपाते हुए बोले, "इतना दुखी होने की क्या बात है, बेटे?"

देर तक देवी की हिलकी बँधी रही। सँभला तो बोला, "मौलवी साहब आप यहाँ से चले जाइए।"

"क्यों चला जाऊँ बेटे?" मौलवी साहब ने बिना किसी उद्विग्नता के शान्त स्वर में पूछा।

"मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ, मौलवी साहब, आप आज ही चले जाइए। यहाँ के आसार अच्छे नहीं हैं। हवा ऐसी बिगड़ी है कि किसी का किसी को एतबार नहीं रहा। मैं आप से क्या कहूँ...... कहते शरम आती है..... आज हरी, लीला और पंचम सलाह कर रहे थे...."

"क्या सलाहकर रहे थे?" देवी के अकस्मात् चुप हो जाने पर मौलवी साहब ने पूछा।

"मौलवी साहब, जबान नहीं खुलती... कहते थे कि एक दिन रात को मौलवी साहब के घर पर धावा बोल दो और उन्हें..."

आगे देवी को कुछ कहने की जरूरत न थी। मौलवी साहब सब समझ गए। उनके बूढ़े चेहरे पर जरा भी चिन्ता नहीं झलकी और उन्होंने हँसते हुए कहा, "बेटा, इसमें हैरान होने की क्या बात है ? तुम लोगों को मेरी जरूरत नहीं है, तुम मुझे नहीं चाहते तो मुझे ही अपनी फिकर क्यों हो ? और सुनो, मैं तुमसे दिल से कहता हूँ, तुम्हारी खुशी में मेरी अपनी खुशी है। गिरधारी से कह देना कि रात को क्यों, मैं तो दिन में ही हाजिर हूँ। उसे डरने की जरूरत नहीं। जाओ बेटे, तुम चैन से सोओ। तुम्हारे मौलवी साहब को एक दिन वैसे भी....."

देवी का जी अन्दर से उमड़ा आ रहा था और मौलवी साहब बिल्कुल निश्चित बैठे थे, जैसे देवी की बात बड़ी साधारण-सी हो। अपने को संयत करके देवी फिर बोला, "मैं आपके पैर पकड़ता हूँ, मौलवी साहब आप चले जाइए। हम चार-छः जने कुछ साथ चलेंगे, जिससे रास्ते में कोई कुछ कह न सके। फिर थोड़ा-सा सामान भी तो साथ ले जाना होगा। जिन्दगी कीमती चीज है, मौलवी साहब, और जहाँ आपने अपनी सारी उमर मुहब्बत ही मुहब्बत बाँटी हो, वहाँ कुछ होना कोई अच्छी बात नहीं है।"

"अच्छा-बुरा इस दुनिया में क्या है, बेटा ?" मौलवी साहब ने थोड़ा गम्भीर होकर कहा, "वक्त के साथ अच्छा-बुरा भी बदलता रहता है। जो आज अच्छा है, कौन कह सकता है कि कल भी वह अच्छा रहेगा ? अपनी जरूरत के मुताबिक आदमी अच्छा-बुरा बनाता है। मैं पूछता हूँ बेटा, जहाँ एतबार नहीं, जहाँ मुहब्बत नहीं, वहाँ जीने से क्या फायदा ! बेटा मैं मुहब्बत का भूखा हूँ। वही मुझे जिन्दा रखती है। करीम और फ़ातिमा की याद को मैंने तुम लोगों की मुहब्बत में भूल जाने की कोशिश की थी। ईश्वर की आस गई तो फिर मुझे उन्ही दोनों के पास जाने में क्यों देर होनी चाहिए ?"

कहते-कहते मौलवी साहब की आँखें गीली हो आई।

देवी में बाद में बहुतेरी मिन्नत की; लेकिन मौलवी साहब जाने के लिए राजी न हुए। उन्होंने साफ कह दिया कि देवी बेटा, मुसीबत से डरकर कायर भागते हैं

और जिसकी जिन्दगी की इमारत प्यार की नींव पर खड़ी हुई है, उसे डरने की जरा भी जरूरत नहीं है।

देवी चला गया और मौलवी साहब चारपाई पर लेट गए। उनके मन में भय का लेश भी नहीं था; लेकिन करीम और फ़ातिमा की याद से उन्हें थोड़ी बेचैनी हो आई थी। वह सोचने लगे कि यह सब क्या है? आदमी का प्यार क्या बुलबुला है, जो जरा-सी देर में फूट जाता है? उसकी जड़ें इतनी कमजोर हैं कि जरा-सी हवा लगी कि उखड़ीं? नफरत लेकर हम कहाँ पहुँचेंगे। इस मारकाट और दुश्मनी का क्या नतीजा निकलेगा? हम लोग अपने को तबाह कर लेंगे! या अल्लाह!

मौलवी साहब के मुँह से एक लम्बी आह निकली और एक क्षण में उस गाँव की उनकी सारी जिन्दगी आँखों के सामने घूम गई। सोचा-विचारी में उन्हें उस रात देर तक नींद नहीं आई।

अगला दिन शान्ति से बीता। मौलवी साहब का मदरसा लगा और शाम को हर दिन की तरह बच्चे अपने-अपने घर चले गये।

रात को मौलवी साहब देर तक मुहम्मद साहब की जीवनी पढ़ते रहे। प्रसंग था कि मुहम्मद साहब अकेले एक पेड़ के नीचे सो रहे हैं। निर्जन स्थान है। उनसे बैर मानने वाला एक आदमी उधर आता है, उन्हें यों अकेला पाकर खुश हो उठता है और उन्हें मारने के लिए म्यान से तलवार खींचता है। हजरत मुहम्मद निश्चिन्त भाव से सो रहे हैं और उनके चेहरे पर मुस्कराहट खेल रही है। आदमी का हाथ उठता है और उठा-का-उठा ही रह जाता है। यह क्या? अरे, यह कौन-सी ताकत है, जो उसका हाथ थाम लेती है?

मौलवी साहब की आँखें डबडबा आई।.....वह मुहब्बत का असर था। आदमी अपना दिल साफ रक्खे तो दुनिया पाक है। फिर किसी को किसी से डरने की जरूरत ही क्या हो? और सच यह है कि दुश्मन तो आदमी के खुद के भीतर बैठा है।

रात काफी बीत चुकी थी, पर मौलवी साहब की आँख नहीं लगी। हजरत मुहम्मद के प्रसंग से वे इतने अभिभूत हो उठे थे कि बत्ती उन्होंने बुझा दी और चारपाई पर लेट कर जाने क्या-क्या सोचने लगे।

इतने में दरवाजे पर हलका सा खटका मालूम हुआ। वे चुपचाप लेटे रहे कि देखें क्या है। आहट होकर शान्त हो गई; लेकिन दो मिनट बाद ही वह देखते क्या हैं कि धीरे से दरवाजा खुला और एक के बाद एक तीन जने भीतर घुस आये। चाँदनी की रोशनी में मौलवी साहब को पहचानते देर न लगी कि आगे गिरधर है और वह धीरे-धीरे कदम बढ़ाता उनकी चारपाई की ओर बढ़ा चला आ रहा है। मौलवी साहब ने फिर भी कुछ नहीं कहा। ज्यों के त्यों लेटे रहे। गिरधारी चार-पाई से कोई दो गज की दूरी पर रुक गया और इशारा करते ही साथी ने उसे कोई चीज दे दी। गिरधारी एक कदम और आगे बढ़ा। मौलवी साहब ने देखा कि उसके दोनों साथियों में में एक पंचम और दूसरा लीला है। इन तीनों को उन्होंनें पढ़ाया था।

गिरधारी देर तक वहीं खड़ा रहा। वह न आगे बढ़ता था, न पीछे हटता था। मूर्ति की भाँति खड़ा था। उसे इस अवस्था में मौलवी साहब देर तक न देख सके। बोले, "बेटा गिरधारी, क्या सोच रहे हो? आगे क्यों नहीं बढ़ते?"

गिरधारी को काटो तो खून नहीं।

मौलवी साहब उठ कर बैठ गए। बोले, "बेटा, आते क्यों नहीं? जो तुम्हें करना है कर लो। मैं तुम्हें रोकूँ या कुछ भी कहूँ तो अल्लाह मुझे दोजक में भी जगह न दे। अरे पंचम और लीला, तुम लोग इतनी दूर-दूर क्यों खड़े हो? आगे आओ बेटा और गिरधारी की मदद करो।"

गिरधारी और उसके दोनों संगी सन्न खड़े थे। गिरधारी सोचता था कि धरती फट जाय तो वह उसमें समा जाय, या आसमान टूट गिरे तो वह उसके नीचे दब जाय! हाय, राम! उसने क्या किया? नब्बे बरस के प्यार के भरे अपने मौलवी साहब का अनर्थ करने की बात सोचने से पहले वह मर क्यों नहीं गया? उसके भयंकर अपराध के एवज में भी इस फरिश्ते के मुँह से प्यार की वाणी ही निकल रही है! हाय, वह कैसा नीच है, कैसा पापी है।

मौलवी साहब ने अत्यन्त सरल और स्निग्ध भाव से कहा, "बेटा गिरधारी-मुझे तो वह दिन याद आता है जब तुम मेरी गोद में खेले थे और मैंने तुम्हें अपना ही करीम मानकर पढ़ाया था। लेकिन बेटा, सच कहता हूँ कि मुझे तुमसे कोई शिका-यत नहीं है। इन्सान को अपना फर्ज पूरा करना चाहिए। जो मैंने किया, वह मेरा

फर्ज था। बेटे, तुम मेरे अजीज हो, प्यारे हो और वैसा मानकर मेरे दिल से तुम्हारे लिये सदा असीस ही निकलेगी।"

दूध-सी चाँदनी में मौलवी साहब का चेहरा चमक उठा।

गिरधारी ने हाथ की चीज उठाकर एक ओर फेंक दी और आगे बढ़कर हुक्के पर से चिलम उठाकर भरने के लिए बोरसी की ओर बढ़ गया। पंचम और लीला भी चारपाई के पास आकर बैठ गए। मौलवी साहब ने उन दोनों की पीठ थपथपाई और देखा कि बोरसी के पास बैठा गिरधारी बारबार अपनी आँखें पोंछ रहा है।

—'मैं मरूँगा नहीं' से

आशा

डा० रघुवीर सिंह

बूढ़ी दुनिया का बचपन था। मानवों की पहली ताक-झाँक थी। आदम और हौवा इस पार्थिव जगत् में अनजाने ही आ पहुँचे थे। उन प्रारम्भिक स्त्री-पुरुष में प्रथम बार प्रेम का संचार हुआ, उस अन्धकारपूर्ण अनन्त आकाश के नीचे, उन टिमटिमाते हुए अनगिनत दीपों की ज्योति में प्रणय-कहानी प्रारम्भ हुई। उसका कहीं न कहीं अंत होना अवश्यंभावी था।

मानव प्रेम का वह प्रारम्भ, जीवन के साथ वह अनोखा खिल्वाड़; प्रेम का क्षणिक अन्त, प्रणय का भंग होना···टूट गये वे कोमल हृदय, उमड़ पड़े वे आँसू, निकल पड़ी उनकी वे तपतपाती हुई उसासें.....वे व्यथित, विरह-पीडित, व्यक्ति पड़े सिसकने लगे। रँग दिया उन्होंने संध्या के उन उजाले बादलों को अपने हृदय के रुधिर की लाली से, भस्मसात करने लगे उस तपतपाये सूर्य को वे अपनी आहों से, जिससे विचलित होकर वह पश्चिमी सागर में डुबकी लगाने दौड़ पड़ा। और, अपने उन उमड़ते हुए आँसुओं से संसार को अंधकार में लुप्त कर दिया, प्रकाशपूर्ण शुभ्र दिवस दुर्दिन हो गये। परन्तु......उस निराशा की कालिमा में प्रकट हुई वह ज्योति। उस रक्तिम अँधियारे आकाश ने शान्त, शीतल चाँदनी को जन्म दिया। अमावस्या की उस काल-रात्रि में चमकने लगी आशा की वह एकमात्र उज्जवल रेखा। दुःखित मानव-हृदय ने बालचन्द्र को देखकर नवीन सुख का अनुभव किया, और उसकी आशा, भोली-भाली अज्ञात आशा—वह तो मानव-जीवन का एकमात्र आसरा बन गई।

किन्तु आत्मसमपर्ण करके भी मानव उस निरीह आशा को नहीं बूझ सका, उसे गले लगाकर भी अपने गत बीते कटु अनुभवों को नहीं भूल सका। उस आशा में भी निराशा थी, उस शीतलता में भी जलन थी, और इस सुख में थी गये-बीते प्रेम की कसक। और....उनका उपाय.....सबको भुला देने वाला,

सब दु:ख-दर्दों का अन्त करने वाला, तथा कठोर-से-कठोर चोटों के भयंकर दर्द को मिटाने वाला एक मात्र समय ही था। परन्तु इतनी दुखपूर्ण देरी, वह प्रचण्ड प्रतीक्षा. . वह समय तो आशा के सहारे ही बीत सकता है। मानव ने उसे गले लगाया, अपने टूटे हुए हृदय तथा भग्न प्रेम के उन विदीर्ण स्थानों पर विस्मृति की ठंढी पट्टी चढ़ाई, और तब. . . समय आप ही आप धीरे-धीरे भूतकाल के गम्भीर गह्वर में ढुलकने लगा।

उसी दिन से मानव आशा को हृदय से लिपटाये, गले लगाये फिरता है। सब कुछ सहता है. किन्तु. , . . उसको नहीं छोड़ता। . . और आशा. . . वह तो मानव की विलग न हो सकने वाली ऐसी छाया बन गई कि निराशापूर्ण अंधकार में भी उसका साथ नहीं छोड़ती।

——'जीवन-धूलि' से

मौक्तिक माल

दिनेश नंदिनी डालमिया

(१)

मैं तो चाकर प्रेम की !

प्रेम, तू ही विश्व में महान् सत्य, पूर्ण सौन्दर्य और चिरन्तन प्रकाश है।

तेरी चरण-पादुका ने ही इस पृथ्वी को तीर्थ-स्थान बनाया है जिसके रज-कण का तिलक अपने भाल पर लगाने के लिये देवता भी उत्सुक रहते हैं।

कवियों ने अनादि काल से तेरा ही गुण-गान किया है, तू ही कविता का आदि स्रोत है ;

शहीदों ने तेरी वेदी पर जीवन न्यौछावर कर मृत्यु का राजमार्ग बना दिया है;

चिरजीवन और चिरमृत्यु का मधुर मिलन तुझमें ही होता है;-तू ही मृत्यु और मृत्युञ्जय है;

मृत्यु, तुझमें नवीन जीवन अन्तर्हित है, मैं तेरा स्वागत करती हूँ;

जीवन,—रहस्यमय जीवन,—वह प्रदेश जहाँ स्वर्ग और भूतल क्षण भर के लिए मिलते हैं, मैं तेरी ऐश्वर्यभरी-निधि से मेरे आराध्य के पदाम्बुजों पर चढ़ाने के लिए यह अनमोल भेंट लाई हूँ।

मैं तो चाकर प्रेम की !

(२)

तुम सौन्दर्य हो, और मैं तुम्हारी सुनहरी अलकों से झड़ने वाली सुगन्धित धूरि हूँ जिसे देख पराग लज्जा से पीला पड़ जाता है।

जब केवड़े और गुलाब के निर्मल जल से स्नान कर गोपीचन्दन का तिलक लगा, पूजा-गृह में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आते हो, मैं सरस्वती का साकार रूप बनकर तुम्हारी स्तुति में समा जाती हूँ !

पुरातन पुजारियों का ज्वालामुखी फूट पड़ता है!—जब सुरा-सुन्दरी का अधरामृत पानकर राजराजेश्वर की तरह झूमते हुए इन मणि-मुक्ता जटित महलों में प्रवेश करते हो, तब राजरानी बनकर तुम्हारे आह्लादित यौवन की साध बन जाती हूँ!

यौवन-गर्विताएँ तिलमिला उठती हैं! परन्तु, जब तुम प्रियतम बनकर कवि की कल्पना से परमेश्वर बन जाते हो, तब मैं प्यासे, थकित, कान्तिहीन नयनों मे चिरभिखारिन की तरह तुम्हारे उपासकों से दर्शन की दयनीय याचना करती हूँ!!

(३)

तेरे प्रेम की अन्तर्ज्वाला ने मुझे जला-जलाकर राख कर दिया, जिसे वायु इधर-उधर उड़ाती है;

तेरे लावण्य की तेज तलवार ने चमक-चमक कर मेरे दिल के सौ-सौ टुकड़े कर दिये, जिन्हें तेरे बाज और शिकरे बड़े चाव से चुगते हैं;

किन्तु, मेरी अजर आत्मा का प्रकाश तुझमें ऐसा समा गया जैसे फूल में सुगन्धि अथवा,

वीणा के तारों में लय!

रात्रि के सूने मन्दिर में तारक प्रकाश और कोमल पुष्प मेरे अथाह प्रेम को पावन करें!

(४)

मुझ पर फूलों की वर्षा न करो, देव,

मैं तो तुम्हारी अनन्त दया का भार वहन करते-करते झुक गई हूँ।

मुझे वैभव का दान न दो, दिव्य,

मैं तो तुम्हारी यौवन-परछाई का ओज देखकर इठला गई हूँ;

मुझे अमर होने का वरदान न दो, वरदाता, मैं तो तुम्हारा जीवन देखकर ही जीने से अघा गई हूँ!

(५)

मुझे ठुकरानेवाले, तेरा जीवन प्रकाशपूर्ण हो, सदैव तू सानन्द सुरभित प्रभात का अभिवादन कर; परन्तु,

भाग्य का घूमता हुआ ताण्डवकारी राजदण्ड किसे छोड़ता है? काल के कुटिल चंगुल में फँसकर कहीं तू अपनी उभरती हुई विभूतियों से बिलम जाये,—वंचित हो जाय—तब सम्भव है,—

भूले भोगी,—

सम्मान हँसी, और जीवन भार प्रतीत हो; मित्र शत्रु की गरज पालें, और हृदयहीन संसार के लोलुप श्वान तेरी आत्मा के वीतराग-पटल पर कालिख पोतें,—उसे घेर कर घोर घृणा का भयंकर चीत्कार करें;—तब हाँ, तब संभवतः,—

मेरे प्रेमी, तुझे यह सूझे,—

'उस पार मेरा एक स्नेही है, निर्वासित हृदय है!'

मैं नितान्त अकेली ही क्यों न होऊँ,—मेरी सांत्वना और सराहना के लिये भले ही कोई क्यों न हो; परन्तु,

संसार-सागर के उस पार मेरी डोंगी की रखवाली करता हुआ एक अभिन्न है,

जिसका मुझमें अखण्ड विश्वास है,

वह मेरी अनंत यात्रा में अंत तक अवश्य साथ देगा!

(६)

मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार किये बिना ही तुम एकाकी कहाँ चल दिये?

तुम्हारे मर्माहत करने वाले सहसा गमन से मैं विस्मित न हुई, अप्रतिभ न हुई, विचलित न हुई, क्योंकि मैंने जाना कि तुम जाने का अभिनय कर कहीं छिपे हो, और मेरे रूठने की आशंका-मात्र से थर्राकर पीछे आ, मेरे नयन मूँद, हँस पड़ोगे!

मैंने तुम्हारे इस अनन्त-गमन को न समझा, यात्री! तुम तो नेह लगाकर बिना ही विदा लिये चल दिये!

(७)

जब काला स्मशान मेरी चिता से जल उठे, तब, ओ निर्दयी, मेरे लिए केवल इतना ही कहना—

'प्रेम ही उसका नेम था, प्रेम ही उसका ज्ञान था, प्रेम ही उसका पांडित्य और प्रेम ही उसका सर्वस्व था!'

जब उलझे हुए संसार में कोई दीवाना किसी जटिल समस्या के सुलझाने का प्रयत्न करे, अंत अरे जालिम, मेरे लिये इतना कह देना,—'प्रेम के गूढ़ रहस्य को उसने अब तक निबाहा, बिना किसी हीले-हवाले के पतंग की भाँति दीपक पर बलिबलिं गई, प्रेम की वेदी पर प्रेम की विजय को निश्चित समझ शहीद बन बैठी; और,

'टूटे स्वप्न की सूनी संध्या में भी आत्म-बलिदान पर एक क्षण के लिए भी सन्देह न किया!'

जब उद्विग्न वसुधा की बेबसी को कोई बेताब लिखने बैठे, तब, ओ गायक मेरे लिये इतना तो जरूर कहना—'दुनिया उस पर व्यंग की हँसी हँसे, उसकी खिल्ली उड़ावे, किन्तु वह उसका क्या बिगाड़ सकती है? संसार में, जहाँ दिव्यता ही प्राण है,—वहाँ भी, यदि उस पर कुठार बरसें, तो भी वह क्या प्रत्युत्तर दे सकती है? सिवा पागल होकर हँसने के उसे क्या सूझ सकता है? अथवा,

'इस नेम से अबोध संसार में साधुता की चिता धधकाने के अतिरिक्त उस पगली के विदग्ध जीवन की और क्या साध हो सकती है?'

जब काला स्मशान मेरी चिता से जल उठे, तब ओ निर्दयी, मेरे लिए इतना तो कह देना!

—'मौक्तिक माल' से

चारित्र्य

रामनाथ 'सुमन'

चारित्र्य बहुभावनामूलक शब्द है। इसका क्षेत्र विस्तृत है। इसमें प्रायः सर्व-मानवोचित गुणों का समावेश हो जाता है। सत्य व ईमानदारी, त्याग,—पर-दुःखकातरता, आदर्श के लिए दृढ़ता और कष्ट-सहन, स्वार्थहीनता, आत्म-संयम इत्यादि अनेक गुणों का इससे बोध होता है। यदि मानव में चारित्र्य नहीं है तो सब कुछ होते हुए भी वह खोखला है। चारित्र्य जीवन के एंजिन का ड्राइवर है—ड्राइवर भी ऐसा जो उसे ठीक रास्ते पर ले जाता है। ज्ञान जब आचरण में बदलता है तब चरित्र बनता है। इसके बिना ज्ञान निरर्थक है बल्कि यों भी कह सकते हैं कि वह और भयंकर हो जाता है। यह हृदय का दीपक है, जो न केवल जीवन के तमसाच्छन्न भागों पर प्रकाश की किरणें बिखेरता है वरन् उसे आवश्यक उष्णता भी प्रदान करता है। जो वस्तु मानव-जीवन को पशु-जीवन से अलग करती है वह चरित्र ही है। जीवन इसी से जीवन है।

चारित्र्य को ही, साधारणतः, सदाचार के नाम से भी पुकारा जाता है। सदाचरण में मनुष्य को चुम्बक के समान अपनी ओर खींच लेने के गुण वर्तमान हैं। यह मानव में आत्मा की शक्ति का विकास करता है। यह पशु-प्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करता है। यह जीवन का मर्म और हृदय निकाल कर हमारे सामने रखता है। चरित्र के उत्थान के लिए आत्मनिरीक्षण की वृत्ति होना आवश्यक है। आत्मनिरीक्षण से ही मनुष्य को अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के पश्चात् यह उन्हें दूर करने में यत्नवान् होता है। वह अपनी दुर्बलताओं को सहन नहीं कर सकता और जब तक उनका निराकरण और आत्मा की शक्ति की प्रतिष्ठा न हो जाय, वह चुप नहीं बैठता। आत्मशोध और आत्मशुद्धि ही चरित्र-निर्माण के साधन हैं।

चरित्र के लिए निर्भय होना पहली शर्त है। भयवश किया जाने वाला

प्रत्येक काम मनुष्य को गिराता और दुर्बल करता है। जहाँ भय है तहाँ आत्मा या ईश्वर के अस्तित्व की अस्वीकृति है। अविश्वास, असत्य और कायरता इत्यादि दुर्गुण भय की ही संतति हैं। अभय मोह-रहित अवस्था की पराकाष्ठा है। जब तक भय है, मानव आत्मा के दिव्य सन्देश को सुनने में असमर्थ है; अपने आदर्श के लिए दृढ़ता का भाव उसमें उत्पन्न न होगा।

हम देखते हैं कि एक कार्य को ठीक समझने पर भी जन-सम्मति के भय से बड़े-बड़े लोग दब जाते हैं, मृत्यु के भय ने वृहत् जन-समूहों को पराधीन और विपन्न बना रखा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य भय से मुक्त होता है त्यों-त्यों उच्च प्रेरणाएँ विकसित होती हैं, त्यों-त्यों उसमें आदर्श के लिए त्याग करने और कष्ट सहने की शक्ति आती है। जीवन के लोभ से आदमी झूठ बोलता है; अपना शरीर, अपनी इज्जत बेचता है; दूसरों का अहित करता है; वह निर्जीव के समान पग-पग पर घुटने टेक देता है। इसलिए जिसने भय को जीत लिया है, वही वस्तुतः जीता है। यूरोप में प्रसिद्ध धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर की शिक्षाओं से चिढ़कर पोप ने उसे एक आदेश-पत्र भेजा। याद रखना चाहिये कि उस समय पोप की शक्ति अजेय थी। यूरोप के बड़े-बड़े शक्तिमान् नरेश उसके भय से काँपते थे। उसका आदेश अनुल्लंघनीय था। पर लूथर ने पत्र को पोप के दूत के सामने ही फाड़कर जला दिया। पोप ने धमकी दी कि यदि तुम अपनी हरकतों से बाज न आओगे तो सिर धड़ से अलग कर दिया जायगा। लूथर ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर लिखा--"खेद है कि मेरे एक ही सिर है। यदि हजार सिर होते और वे सब इस धर्मयज्ञ में बलि चढाये जाते तो मैं अपने को धन्य मानता।"

उच्च चारित्र्यबल के विविध उदाहरणों से हमारा प्राचीन इतिहास भरा पड़ा है। हरिश्चन्द्र का सत्यपालन, दधीचि का परोपकारार्थ अपनी हड्डियों का दान, शिबि का अपने शरीर से काट-काट कर मांस देना, भूखे रन्तिदेव का सामने की थाली दूसरे अतिथि को देना, विदेह जनक की अनासक्ति, भरत का राज्य-त्याग और तप, राम का कर्त्तव्यपालन, कर्ण का दान, श्रीकृष्ण की अनासक्ति, गौतम का ज्ञान की खोज में सर्वस्व-त्याग, चारित्र्य के एक-से-एक उदात्त एवं सुन्दर उदाहरण हमारी सभ्यता ने हमारे आगे रख दिये हैं।

धन के बिना मनुष्य उठ सकता है, विद्या के बिना भी उन्नति कर सकता है, यश के बिना आत्मशक्ति का रहस्य जान सकता है पर चरित्रबल के बिना वह सर्वथा हीन और पंगु है और किसी गुण से इसकी तुलना नहीं हो सकती। अँग्रेज विद्वान् सर वाल्टर स्काट से एक दिन उनके किसी मित्र ने कहा कि 'विद्या और लोकमान्यता ('नालेज ऐण्ड पापुलारिटी') ये दो गुण संसार में सब से ऊपर हैं।' इसके उत्तर में स्काट ने कहा था कि 'यदि आप का मान ठीक हो तो मानव-जीवन का मूल्य कुछ अधिक न होगा। मुझे अब तक के अध्ययन और विद्वानों के समागम से जो कुछ अनुभव हुआ है उस पर विश्वास रखकर मैं कह सकता हूँ कि संकटों के बीच जीवन व्यतीत करते हुए भी शान्ति, धैर्य, सन्तोष और संयम के जो आकर्षक उदाहरण मुझे दीन और अशिक्षित लोगों में मिले हैं वे श्रीमानों और विद्वानों में नहीं मिले।' निर्धन और धनवान, अशिक्षित और शिक्षित प्रत्येक प्रकार के मनुष्य के लिए चरित्र-बल आवश्यक है। निर्धन की तो वह एक मात्र पूँजी है। धनवान के लिए उसकी निर्धन से अधिक आवश्यकता है क्योंकि धनवान् के लिए प्रलोभन और वासना के जाल में फँसे रहने की अधिक सम्भावना है। चरित्रहीन धनवान् चरित्रहीन निर्धन की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर होता है।

आचरणहीन ज्ञान या पांडित्य पाखंड-मात्र है। सदाचरण का सम्बन्ध अन्तर से है। जिस आचरण में अन्तर का पूर्ण सहयोग नहीं है वह सदाचरण नहीं है। हार्दिक भावना की शुद्धता मुख्य बात है। एक आदमी दान करता है, दूसरों की सहायता करता है; पर उसके मन में दूसरों की दृष्टि में अपने को श्रेष्ठ प्रदर्शित करने का भाव है। एक व्यक्ति एक रोगी या एक कोढ़ी की सेवा में लगा है पर आकांक्षा यह है कि लोग उसे सन्त या महापुरुष समझने लगें। इसे सदाचार या श्रेष्ठ चारित्र्य नहीं कह सकते। एक व्यक्ति सार्वजनिक कार्य में लाखों दे देता है फिर भी करोड़ों की सम्पत्ति उसके पास मौजूद है। दूसरा है जो अपना पेट काटकर दूसरों के हित के लिए थोड़ा दान करता है। किस दान का महत्व अधिक है? एक दीन मजदूर की श्रद्धापूर्वक दी हुई कौड़ी एक करोड़पति के लाखों के दान से अधिक महत्व रखती है। यूरोप के प्रसिद्ध लेखक, 'नोबेल' पुरस्कार-विजेता नुत हैमसन ने एक स्थान पर लिखा है--'एक

आदमी बहुत देता है पर उसके पास देने को तब भी बहुत शेष है, दूसरा थोड़ा देता है पर उसके पास देने को उसके सिवा कुछ नहीं है। किसने अधिक दिया ?' निश्चित रूप से जो थोड़ा देकर भी निःस्व बन गया है, जिसे थोड़ा देने में बहुत त्याग करना पड़ा है, वही श्रेष्ठ दाता है। चरित्र का सम्बन्ध आत्मशुद्धि के साथ है और उसके लिए बाह्य त्याग की अपेक्षा आन्तरिक त्याग की अधिक आवश्यकता है। उसमें अन्तःकरण का योग होना ही चाहिये।

जब मैं यह लिख रहा हूँ तो मुझे एक प्राचीन कथा स्मरण आ रही है। इसका आख्यान महाभारत के वन पर्व में हुआ है। राजा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ हो चुका था। उसके बाद की घटना है। ब्राह्मण और याचकगण एक स्थान पर बैठे हुए उस यज्ञ की बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा कर रहे थे। अधिकांश का कहना था कि ऐसा यज्ञ न पहले कभी हुआ, न आगे कभी होगा। वे बात कर ही रहे थे कि एक न्योला वहाँ आया। इसका आगे का आधा अंग सुनहला था, स्वर्ण की भाँति आकर्षक था, नीचे का आधा सामान्य मटमैला रंग का था। उसने ब्राह्मणों से कहा, "तुम्हारा कथन सत्य नहीं है। मैंने अपनी आँखों से ऐसा यज्ञ देखा है जिसके सामने यह कुछ भी नहीं है।" इस पर ब्राह्मणों को बड़ा आश्चर्य और कुतूहल हुआ। उन्होंने पूछा, "वह कौन-सा यज्ञ था जिसे तुम इससे बढ़कर बतला रहे हो ?" न्योला बोला—"सुनो, सुनाता हूँ। कुछ समय हुआ, व्यापक महा-दुर्भिक्ष पड़ा था। अन्नकष्ट से प्रजा हाहाकार कर रही थी। इस दुर्भिक्ष में, एक ब्राह्मण गृहस्थ भी संकटापन्न था। उसके कुटुम्ब में चार प्राणी थे, एक ब्राह्मण, दूसरी उसकी धर्मपत्नी, तीसरा उसका पुत्र और चौथी पुत्रबधू। तीन दिनों से इन चारों को कुछ भी खाने को न मिला था। चौथे दिन यह ब्राह्मण कहीं से सेर भर सत्तू लाया जिसके चार भाग करके ये चारों पानी में घोल रहे थे कि इतने में किसी ने द्वार खटखटाया। ब्राह्मण ने उठकर द्वार खोल दिया। देखा एक वृद्ध अतिथि सामने खड़ा है और पेट पर हाथ मारकर कहता है कि बाबा, आज चार दिन का भूखा हूँ, कुछ खाने को दे। यह सुन कर ब्राह्मण ने उसे आदरपूर्वक बैठाया और अपने भाग का सत्तू उसके आगे धर दिया। वह भूखा तो था ही, एक ही सपाटे में सफाचट कर गया और कहने लगा कि बाबा, इससे तो मेरी भूख और बढ़ गई। तब ब्राह्मण की धर्मपत्नी ने भी अपना भाग उसके

सामने धर दिया। वह अतिथि उसे भी उदरस्थ कर गया और बोला––मेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई। तब ब्राह्मण-पुत्र ने भी अपना भाग उसे दे दिया और जब उससे भी उसकी शान्ति न हुई तो ब्राह्मण की पुत्र-बधू ने भी अपना भाग उसको अर्पण किया। उसको खाकर अतिथि ने तृप्ति-भाव से डकार ली और ब्राह्मण को आशीर्वाद देकर वहाँ से चला गया। उसके चले जाने के बाद भूख के मारे उस कुटुम्ब के चारों प्राणी काल-कवलित हुए। मृत्यु ने उन्हें सदा के लिए क्षुधा और पिपासा की यन्त्रणा से मुक्त कर दिया। अकस्मात् विचरता हुआ मैं वहाँ पहुँच गया। वहाँ उस सत्तू की भूसी पड़ी हुई थी। उस भूसी का स्पर्श होते ही मेरा यह आधा अंग सुनहला हो गया। तब से अब तक मैं बहुत से यज्ञों और उत्सवों में गया और इस यज्ञ के मण्डल में भी चारों ओर फिरा, जिसकी तुम लोग बड़ी प्रशंसा कर रहे हो पर मेरा आधा अंग ज्यों का त्यों मटमैला बना रहा; सुनहला नहीं हुआ। इसी से मैं कहता हूँ कि यह यज्ञ उस गृहस्थ ब्राह्मण के यज्ञ की तुलना नहीं कर सकता।"

इस आख्यान में सच्चे त्याग, सच्चे चारित्र्य का रहस्य स्पष्ट हो गया है। परिणाम का नहीं, अन्तःसत्व, अन्तःसौख्य का सम्बन्ध चरित्रबल से है। एक आदर्श के लिये सब कुछ भेंट चढ़ा देने की शक्ति इस चरित्र से ही प्राप्त होती है। यह चरित्र का ही बल था कि प्रताप जीवन भर वनों और पर्वतों की धूल फाँकते रहे पर अपने सम्मान और अपने आदर्श का सौदा करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। यह चरित्र का ही बल था कि शत-शत सुकुमारी राजपूत नारियों ने श्रृंगार करके हँसते-हँसते मृत्यु को वरण किया पर अपनी इज्जत पर आँच न आने दी। यह चरित्र का ही बल था कि सिख गुरु-पुत्रों ने प्राण दिया पर बलात् धर्म परिवर्तन स्वीकार न किया।

चरित्रवान् व्यक्ति आत्मा को धोखा नहीं दे सकता, वह आत्मवंचना नहीं करेगा। वह अपने प्रति पूर्णतः सच्चा––ईमानदार––होता है। इसलिये वह दूसरों के प्रति भी सच्चा होता है। बड़े-बड़े कारखाने और धन्धे अपनी साख पर चलते हैं और यह साख इसी बात पर निर्भर है कि कारखानों या धन्धों के स्वामी तथा कार्यकर्त्ता कितने सच्चे हैं; उनके आचरण में कितनी ईमानदारी है। प्रायः लोग समझते हैं कि व्यवसाय व्यापार के लिये असत्याचरण आवश्यक

है। यह अत्यन्त भ्रमात्मक धारणा है। पुराने ढंग की विभिन्न दुकानों एवं व्यवसायों में दिन में सैकड़ों का माल आता-जाता है। इनकी कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती है। केवल भेजने वाली दूकानें एक कागज पर नोट करती हैं और संध्या समय या नियत अवधि के पश्चात् रुपये मँगवा लेती हैं। न रसीद न स्टाम्प और लाखों का व्यापार होता है। प्रत्येक व्यवसाय के मूल में प्रवेश करके देखने से पता चलता है कि उसकी सफलता का रहस्य दृढ़ता और ईमानदारी है।

'फाक्स' इंगलैण्ड का प्रसिद्ध पुरुष और वक्ता था। उसको एक साहूकार का कुछ ऋण देना था। एक दिन वह साहूकार दस्तावेज लेकर फाक्स के घर गया। फाक्स उस समय मुहरें गिनकर एक थैली में भर रहा था। साहूकार ने पूछा, "रकम तो तुम्हारे पास है फिर मेरा ऋण क्यों नहीं चुका देते?" फाक्स ने कहा—"यह द्रव्य मुझे शेरडिन को आज ही देना है। क्योंकि तुम्हारे ऋण का तो दस्तावेज है पर उसके ऋण की कहीं कोई लिखा-पढी नहीं है।" यह सुनकर साहूकार ने कहा—"तब तो मैंने दस्तावेज लिखाकर बड़ी भूल की।" और उसके सामने ही दस्तावेज फाड़कर फेंक दिया और कहा—"लो अब तो मैं भी ऋण पाने का अधिकारी हो गया।" यह देखकर फाक्स को बड़ा आश्चर्य हुआ और उस साहूकार का अपने प्रति विश्वास देखकर उसने उसी समय उसका सब ऋण चुका दिया।

स्वर्गीय देशबन्धु चित्तरंजनदास उन आत्माओं में थे जिन्हें रुपये से खरीदा या प्रभावित नहीं किया जा सकता था। वह कभी रुपये के गुलाम नहीं हुये, सदा उसे गुलाम रखा। एक घटना याद आती है। १९२१ ई० की बात है, कदाचित् अक्टूबर का महीना था। चित्तरंजन कुछ मित्रों के साथ किसी योजना पर विचार कर रहे थे कि एक महाजन अपना कर्ज उगाहने आया। उसके लगभग पाँच हजार रुपये बाकी निकलते थे। जब उसे दूसरे दिन आने को कहा गया तो भुनभुनाने और मुँह बनाने लगा। संयोग की बात कि इसी समय एक भारतीय ताल्लुकेदार ने कमरे में प्रवेश किया। पहले चित्तरंजन इनके मुकदमें की पैरवी कर चुके थे पर साल के आरम्भ में छोड़ दिया था। उसने देशबन्धु से पुन: वह मुकदमा हाथ में लेने की प्रार्थना की और इसके लिए एक लाख रुपये पारिश्रमिक देने को कहा। 'न' कहने पर दो लाख कहा और अन्त में यह समझकर

के और रुपये चाहते होंगे, कहा कि "आप स्वयं जो उचित समझें अपना पारिश्रमिक कह दें, मैं उतना ही दे दूँगा।" पर चित्तरंजन ने शान्तिपूर्वक मुस्कराते हुए इनकार किया। इतने समय तक वह महाजन, जिसने ऋण दिया था, बैठा सब सुन रहा था। वह आश्चर्यविमूढ़ हो गया था और जब चित्तरंजन कमरे के बाहर निकले तो वह नशे में डूबे हुए आदमी की तरह पीछे-पीछे बाहर आया और हाथ जोड़कर आँखों में आँसू भरे हुए बोला--

"देवता! देवता! मेरी आँखों के सामने ही आपने दो लाख रुपये त्याग दिये और मैं पाँच हजार रुपये का तकाजा करने आपके पास आया। रहने दीजिये, हमारे रुपये!"

चारित्र्य का ऐसा ही प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। पर इन सब से उत्तम चारित्र्य का उदाहरण अँग्रेजी लेखक स्वेट मार्डेन ने दिया है। घटना एक अत्यन्त दीन लड़के से सम्बन्ध रखती है, इसलिए और भी महत्वपूर्ण है। उसी के शब्दों में घटना यों है--

"नंगे-पैर, चिथड़े लपेटे हुए एक लड़के ने आगे बढ़कर एक राह-चलते सज्जन से कहा--"महाशय, दो-चार डिब्बियाँ दियासलाई मुझसे खरीद लीजिए।"

उन सज्जन ने कहा--"नहीं भाई, मुझे दियासलाई नहीं चाहिये।"

"ले लीजिए, एक ही पैसे तो दाम है," कह कर लड़का उनके मुँह की ओर देखने लगा। फिर भी उन्होंने कहा--"मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।"

"अच्छा एक पैसे की दो डिब्बियाँ ले लीजिए।"

किसी तरह लड़के से पिंड छुड़ाने के लिए उस भले आदमी ने एक डिब्बिया ले ली। पर जब देखा कि पास में दाम देने को फुटकर नहीं है तो डिब्बी वापस कर दी और कहा--"मैं कल खरीद लूँगा।"

लड़के ने फिर नम्रता से कहा--"आज ही ले लीजिये; मैं शिलिंग भुनाकर ला दूँगा।"

बालक की बात सुनकर उन्होंने उसे एक शिलिंग दे दिया। थोड़ी देर तक वह खड़े रहे, पर लड़का न लौटा। उन्होंने सोचा कि कदाचित् अब शेष रकम न मिलेगी। कुछ देर और राह देखकर वे अपने घर चले आये।

संध्या समय नौकर ने आकर सूचना दी कि एक लड़का आपसे मिलना

चाहता है। उत्सुकतावश उन्होंने तुरन्त उसे अन्दर बुला लिया। देखते ही समझ गये कि कदाचित् यह उस लड़के का छोटा भाई होगा। यह लड़का सुबह वाले लड़के से भी अधिक चिथड़ों से लिपटा हुआ था। शरीर की एक-एक हड्डी दिखाई दे रही थी; हाँ, मुख पर चमक थी। थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने कहा--"क्या आपने ही मेरे भाई से सुबह दियासलाई की एक डिब्बी खरीदी थी ?"

"हाँ।"

"लीजिये, अपनी बाकी रकम। मेरा भाई स्वयं न आ सका। उसकी तबियत ठीक नहीं है। वह एक गाड़ी से टकरा गया और गाड़ी उसके ऊपर से निकल गई। उसकी टोपी, दियासलाई की डिब्बियाँ और आपकी रकम न मालूम कहाँ छिटक गई। उसकी दोनों टाँगें टूट गई। वह अच्छा नहीं है। डाक्टर कहते हैं, वह बचेगा नहीं। उसने किसी तरह जुटाकर यह रकम भेजी है।" इतना कहकर बालक रोने लगा। भद्र पुरुष का हृदय विह्वल हो गया। वह लड़के को देखने उसके घर गये।

जाकर देखते हैं कि वह अनाथ बालक एक बूढ़े शराबी के घर में रहता है। लड़का फूस पर लेटा हुआ था। इन्हें देखते ही वह पहचान गया और लेटे-लेटे ही बोला--"मैंने आपकी दी हुई शिलिंग भुना ली थी और लौट कर आ ही रहा था कि घोड़े से टकराकर गिरा और मेरी दोनों टाँगें टूट गई।" इतना कहकर बालक दर्द से कराहता हुआ, अपने छोटे भाई से बोला--"प्यारे भैया, मेरी तो मौत आ रही है, पर तुम्हारा क्या होगा ? तुम्हारी देखभाल कौन करेगा ? हाय, मेरे न रहने पर तुम क्या करोगे ?" इतना कह कर उसने उसे गले लगा लिया। उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे।

उक्त सज्जन ने दुखी बालक का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा--

"बेटा, तुम चिन्ता न करो। मैं तुम्हारे भाई की रक्षा करूँगा।"

बालक आश्वस्त हुआ। उसकी शक्ति प्रति क्षण क्षीण हो रही थी, फिर भी सम्पूर्ण बची-खुची शक्ति एकत्र करके उसने उनकी ओर देखा। आँखों से धन्यवाद और कृतज्ञता के भाव साथ-साथ निकल रहे थे। हृदय कुछ कहना चाहता था पर शब्द मुँह से न निकलते थे। बस उसकी आँखें बन्द हो गईं।

एक गरीब बालक, जिसे खाने का ठिकाना नहीं, घायल पड़ा हुआ मृत्यु

की ओर बढ़ता हुआ भी न भूला कि उसे कुछ पैसे लौटाने हैं। उसने उस हालत में, जब उसका दम उखड़ रहा था, अपने छोटे भाई को उन सज्जन का चेहरा-मोहरा और घर की स्थिति का अन्दाज बताकर उनके पास भेजा। चारित्र्य के ऐसे दृष्टान्त अत्यन्त दुर्लभ हैं पर ये ही दृष्टान्त हैं जो जीवन-मार्ग में लगी काई पर फिसल कर पतन के गर्त में गिरते हुए पाँवों को रोक लेते हैं और हृदय को उच्च प्रेरणाएँ प्रदान करते हैं।

गांधी जी के एक मित्र और सहयोगी श्री केलेनबैक थे। यह जर्मन थे और दक्षिणी अफ्रीका में एक प्रसिद्ध इन्जीनियर थे। गांधी जी के साथ रहकर उनका जीवन भी बिल्कुल बदल गया था; वह भी साधु प्रकृति के हो गये थे। दक्षिणी अफ्रीका में वह प्राय: गांधी जी के साथ रहते थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि कुछ लोग गांधी जी को मारने की ताक में हैं तो वह सदा परछाईं की तरह गांधी जी के साथ रहने लगे। कुछ दिन बाद गांधी जी को सन्देह हुआ और अनुमान से उन्होंने सब बातें जान लीं। एक दिन उन्होंने केलेनबैक की जेब में हाथ डाला तो उसमें एक तमन्चा मिला। उन्होंने कड़क कर पूछा—

"हैं? क्या महात्मा टाल्सटाय के शिष्य भी शस्त्र साथ रखते हैं?"

केलेनबैक ने कहा—"जरूरत होने पर रखना ही पड़ता है।"

गांधी जी ने और कड़क कर पूछा—"तमन्चा साथ रखने की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी है?"

केलेनबैक ने कुछ घबराहट के साथ उत्तर दिया—"मुझे सूचना मिली है कि कुछ लोग आप पर आक्रमण करने वाले हैं, इसी से मैं तमन्चा रखता हूँ।"

गांधी जी ने कहा—"मेरी रक्षा की जिम्मेदारी तुमने अपने ऊपर ले रखी है? क्या इस तमन्चे से तुम मेरी रक्षा करोगे?"

केलेनबैक चुप रहे। गांधी जी बोले—"और उस तमन्चे से ही मेरी रक्षा होती है तो मैं अभी इसी से अपने शरीर का अन्त कर डालता हूँ। तब तुम क्या करोगे, मेरे मित्र? यदि तुम मेरे सच्चे स्नेही होते तो इस शरीर पर तुम्हारा इतना मोह होना सम्भव ही न था। स्नेह केवल शरीर की ही रक्षा नहीं करता, आत्मा की भी रक्षा करता है। शरीर आज नहीं तो कल नष्ट हो जायगा।

स्नेह के लिए ऐसी क्षणभंगुर वस्तु पर आसक्ति रखना अनुचित है। उसे अमरत्व की अभिलाषी रखनी चाहिए। यदि तुम मेरे सच्चे मित्र हो तो तमन्चे से मेरी रक्षा करने का विचार छोड़कर इसे फेंक दो।" उस दिन वे केलेनबैक ने तमन्चे को छुआ तक नहीं।

उन्ही दिनों की बात है कि सत्याग्रह की अन्तिम लड़ाई के सिलसिले में गांधी जी डरबन से जोहान्सबर्ग जाने वाले थे। तब यह बात मालूम हुई कि कुछ लोगों ने मार्ग में उनकी हत्या करने का षड्यन्त्र रचा है। एक आदमी ने सब बातें गांधी जी से कहीं और प्रार्थना की कि जोहान्सबर्ग न होकर बाहर-बाहर से नेटाल जायँ। इस पर गांधी जी ने उत्तर दिया—"यदि मरने के भय से जोहान्सबर्ग न जाऊँ तो मैं सचमुच ही जीवित रहने के योग्य नहीं। मैं वहाँ जाऊँ और मारने वालों की योजना सफल हो जाय तो मुझे सन्तोष होगा। कदाचित ईश्वर की यही इच्छा हो कि मैं अपना काम पूरा कर चुका और अब बुला लिया जाऊँ।"

केलेनबैक इस अवसर पर वहीं थे। उन्होंने यह बात सुनी तो उस आदमी से, जिसने उन्हें यह बात सुनाई थी, कहा—"हम लोगों की अपेक्षा गांधी जी अधिक अच्छी तरह अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं और उससे भी अधिक अच्छी ईश्वर उनकी रक्षा करता है।"

गांधी जी जोहान्सबर्ग गये। वहाँ लोगों ने उनका खूब स्वागत किया। १९०८ में जिन चार पठानों ने गांधी जी पर आक्रमण किया था उनमें से एक यहाँ उपस्थित था। उसे जब इस षड्यन्त्र की सूचना मिली तो उसने गांधी जी की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और उनके वहाँ पहुँचते ही उनके चरणों पर लोटने लगा। अभय और आत्मबल का यह एक उदाहरण है।

यदि हम इतिहास के पन्ने उलटें, महापुरुषों के जीवनचरित्रों का अध्ययन करें या अपने आसपास के व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश करें तो चारित्र्य के अनेक गुणों के अगणित उदाहरण हमें मिलेंगे। मानव-समाज का अस्तित्व ही उन गुणों पर निर्भर है, जिन्हें चारित्र्य के सामूहिक भावार्थ में पुकारा जाता है। वाल्टेयर का मत है कि वही आदमी महान् है जिसने मानव जाति का कुछ कल्याण किया हो, जिसके द्वारा किसी दुखिया का दुःख कम हुआ हो, जिसने अपने बाहुबल

से अनाथों और अबलाओं के उत्थान में सहायता की हो, जिसने नई बातों की खोज करके रोगग्रस्त मानव जाति का दुःख घटाया हो, जिसने सब को अपना भाई समझकर उनके कल्याण और दुख दूर करने का प्रबन्ध किया हो, जो किसी को संकट में देखकर उसकी सहायता को दौड़ पड़ता हो, अथवा जिसने समाज व राष्ट्र के उद्धार के लिए अपना बलिदान कर दिया हो। मानव जीवन का सौख्य, सार्थकता उस त्यागपूर्ण जीवन में है, जिसमें अपना कल्याण और दूसरों का हित हो। अनुचित, पतन-मार्गो का अनुकरण करने वाले धनलोलुप व्यक्तियों मे मानवता स्फूर्ति नहीं ग्रहण करती, न उनके द्वारा इतिहास का निर्माण होता है। मार्डेन पूछता है—"क्या तुम उस भद्दी सूरत वाले आदमी को सफल कहते हो? क्या उसकी सूरत उसके धन-संचय की विधि की घोषणा नहीं कर रही है? क्या तुम उस बड़ी तोंद वाले को सफल कहते हो? क्या दीन-दुखियों को धोखा देखकर धन संग्रह करने के उसके हथकण्डों से तुम परिचित नहीं हो? क्या तुम उसके चेहरे पर अनाथ बालकों और विधवाओं के दुःख का इतिहास नहीं देख पाते? क्या तुम उस व्यक्ति को स्वयं निर्मित पुरुष कह सकते हो जो दूसरों को मिटाकर बना है, जो दूसरों का घर गिरा कर अपना घर बनाता है।? क्या दूसरों को निर्धन बनाने वाला व्यक्ति वास्तव में धनवान है? क्या वह आदमी कभी सुखी रह सकता है जिसकी नस-नस में लोभ भरा हुआ है? . . .संसार को ऐसे व्यक्तियों को आवश्यकता है जो धन के लिए अपने को बेचते नहीं, जिनके रोम-रोम में ईमानदारी भरी हुई है; जिनकी अन्तरात्मा दिशादर्शक यंत्र की सुई के समान एक शुभ तारे की ओर देखा करती है, जो सत्य को प्रकट करने में राक्षस का सामना करने से भी नहीं डरते, जो कठिन कार्यों को देखकर हिचकते नहीं, जो अपने नाम का ढिंढोरा न पीटते हुए साहसपूर्वक काम करते जाते हैं। . .मेरी दृष्टि में वही सबसे बड़ा आदमी है जो मुझे आसपास की तुच्छ बातों और कुरीतियों के बन्धनों से मुक्त कर देता है, जो मेरी वाणी को स्वतन्त्र कर देता है और मेरे लिए सम्भावनाओं के कपाट खोलता है।"

चरित्रबल ही मानव-सभ्यता का दीपक है। यही हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। हममें से प्रत्येक को लार्ड केनिंग के शब्दों में संकल्प करना चाहिये कि "मैं चरित्र के मार्ग पर चलकर शक्ति प्राप्त करूँगा और मैं दूसरे मार्ग का सहारा न लूँगा।"

—'जीवन-यज्ञ' से

सफलता की कुञ्जी

सत्यकाम विद्यालंकार

चरित्र निर्माण कोई ऐसी कला नहीं है जिसकी साधना "स्वान्तः सुखाय" हो। चरित्र, जीवन के किसी आंशिक गुण का भी नाम नहीं है, यह तो सम्पूर्ण जीवन का नाम है। जीवन का निर्माण ही चरित्र-निर्माण है। जीवन सफलता ही चरित्र की सफलता है। सफलता ही इसकी कसौटी है और सफलता के उद्देश्य से ही जीवन के सब प्रयत्न किये जाते हैं।

जिस क्षण मनुष्य कोई इच्छा करता है उसी क्षण उसके विचार-जगत में तथा बाह्य वातावरण में एक प्रकम्पन-सा पैदा हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे प्रशान्त पानी में पत्थर के गिरने से। प्रकम्पन की ये धाराएँ चारों ओर से वातावरण में लहरें बनकर फैलना शुरू कर देती हैं। मानों मनुष्य की इच्छा ही मूर्तिमान होकर अपना विस्तार कर रही हो। इच्छा स्वयं चेतन-धारा है—जड़ पाषाण नहीं। यह प्रकम्पन अन्य प्रकम्पनों की सृष्टि करते हैं और उनसे मिलकर तथा किनारे के आघात-प्रत्याघातों से विक्षुब्ध होकर आकाश-चुम्बी ज्वारभाटा का रूप धारण कर लेते हैं। इन संचित प्रकम्पनों में इतनी शक्ति पैदा हो जाती है कि दुनिया की बड़ी-बड़ी बाधाएँ भी सिर झुका देती हैं।

इसी तरह मनुष्य अपनी इच्छा से अपने अभीष्ट को पा लेता है। वह जो चाहता है पा लेता है, जैसा चाहता है बन जाता है। मनुष्य की इच्छा के इन प्रकम्पनों में ऐसा चुम्बकीय खिंचाव होता है कि एक प्रकम्पन दूसरे को आकर्षित करता है। दुनिया का कोई भी खिंचाव अकेला नहीं होता। आकर्षण सदा परस्परापेक्षी होता है। आप किसी वस्तु को चाहें, इससे पूर्व उसमें आपकी चाह विद्यमान होनी चाहिए। किसी वस्तु में अपना अंश होने पर ही वह अभीष्ट बनती है। "आत्मैव कामाय वै सर्वं प्रियोभवति" अन्यथा उसने आपके मन में उसे अपना बनाने की

इच्छा ही क्यों जागृत की ? आपकी मानसिक और भावना-शक्ति आपकी अदृश्य कामना में केन्द्रित होती है, उसके बाद अपने प्रयत्न से आप उसे प्राप्त कर लेते हैं।

प्रयत्न की कोई भी दिशा हो, सफलता उसी मनुष्य को मिलती है जो प्रत्येक क्षण अपने निर्माणोन्मुख विचारों में उत्साह और जीवन भरता रहता है। कार्य-क्षेत्र कोई भी हो सकता है। सफलता के साथ कार्य-क्षेत्र के रूप का कोई सम्बन्ध नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि आपका व्यवसाय कौन-सा है बल्कि यह है कि आप अपना कार्य कितनी लगन से करते हैं। सच्ची लगन में निराशा का कोई स्थान नहीं और अक्षमता की कल्पना भी नहीं। अक्षमता का विचार मनुष्य की प्रगति को रोक कर उसे निचेष्ट बनाता है। चिन्ताशील मनुष्य बहुत शीघ्र हतोत्साह होकर निर्बल हो जाता है। उसकी चिन्तातुरता उसके अविश्वासी हृदय की बीमारी है। अविश्वासी और मन्द साहसी व्यक्ति जीवन में सफल नही होता।

सफलता की पहली शर्त यह है कि आप अपनी असंभव को संभव बनाने की क्षमता पर कभी अविश्वास न करें। विश्वास के बिना हर काम कठिन है। आपके मन का विश्वास ही आपकी मुश्किलों को आसान बना सकता है, कोई भी बाह्य-शक्ति यह काम नहीं कर सकती। विश्वास की जलधारा के सामने बाधाओं की चट्टानें टूट कर बिखर जाती हैं।

जीवन का मार्ग बाधाओं की चट्टानों से पटा पड़ा है। इन बाधाओं को ही सीढ़ी बना कर चढ़ने वाला व्यक्ति सफलता के शिखर पर पहुँच पाता है। उनसे घबरा कर बैठने वाला व्यक्ति कभी आगे बढ़ नही सकेगा। सफलता का दीपक आपके अन्तःकरण की ज्योति से ही जलेगा, आपको अपने हाथों उसे जलाना होगा। अनुकूल अवसर का संकेत भी आपका अन्तःकरण ही आपको देगा। उस अवसर की प्रतीक्षा मत कीजिए। वह स्वंय नहीं आयेगा। अवसर की प्रतीक्षा करना निराधार सपने लेनें के समान मिथ्या है। यदि आप दैव, भाग्य या अवसर पर ही भरोसा रखते हैं तो आपका जीवन असफलताओं और मानसिक दुर्बलताओं से भर जायगा। प्रत्येक दैवीय घटना के पीछे मनुष्य का हाथ होता है। सफलता संयोग से नहीं, पुरुषार्थ से मिलती है। बीते समय पर आँसू बहाना कायरों का काम है। परिस्थितियों को कोसना अपने को धोखा देना है। इस रोने-धोने में

शक्ति का अपव्यय मत कीजिये। हर नया दिन नई आशाओं के साथ उदय होता है। हर असफलता नई सफलता के मार्ग को आसान बनाती है। कोई भी असफलता इतनी बड़ी नहीं कि वह आपकी सफलता पाने की योग्यता को छोटा कर दे। आपका जीवन वह दीपक नहीं जो हवा के झोकों से बुझ जाय। यह तो वह ज्वाला है जो आँधियों से लिपटकर आसमान को ललकारती है।

आप अपने प्रतिदिन के कार्यों की सफलता से ही अपने को क्यों तौलते हैं? यह तो आपकी शिक्षा का समय है। जीवन के हर क्षण को अन्तिम परीक्षा का क्षण समझना भूल है। आपको जिस शिखर पर चढ़ना है, वह दूर है। जो कुछ आप कर रहे हैं वहीं तक आपका कार्य-क्षेत्र सीमित नहीं है। जीवन-यात्रा के हर पड़ाव को लक्ष्य मत समझिये। इस यात्रा में कोई मुसाफिर सदा एक ही चाल से नहीं चल सकता। आज आपके कदम भारी हैं तो कल हल्के हो जायँगे। याद रखिये—आप दूर के यात्री हैं। आपको ऊँचा चढ़ना है। रास्ते की थकान को क्षणिक थकान ही समझिये। उसे कठिन बाधा समझकर बैठना पागलपन है। निरुत्साहित होने मात्र से आप के मार्ग की कठिनाइयाँ आसान नही होंगी। उत्साह बनाये रखिये। उत्साही मनुष्य थकता भी है, ठोकरें भी खाता है किन्तु बढ़ता ही जाता है। ऊँचे उद्देश्यों का आकर्षण उसकी नसों में नया रक्त भर देता है, नई शक्ति का संचय होता है और वह फिर परिवर्धित उत्साह के साथ अपनी मंजिल की ओर बढ़ता है।

विजय और सफलता की चाह सबको है, परन्तु उसकी कीमत अदा करने वाले थोड़े ही हैं। सब लोग बिना मूल्य सफलता पाने को उतावले हो जाते हैं। यह अधीरता विनाशक होती है। जीवन की यात्रा स्थिर बुद्धि और स्थिर कदमों से करनी चाहिये। अधीरता प्रायः आत्मविश्वास की न्यूनता से होती है। विश्वास की पूर्णता मनुष्य को स्थिरता सिखलाती है। आप अपनी क्षमता का जो मूल्य लगायेंगे, दुनिया भी आपको उसी मूल्य से जाँचेगी। स्थितप्रज्ञ और संयत व्यक्ति अपने सम्मान को संसार की दृष्टि में ऊँचा रखता है। आत्म-गौरव की इस भावना की झलक उसके नित्यप्रति के व्यवहार में भी स्पष्ट दिखाई देती है। उसका गौरवान्वित व्यक्तित्व संसार के लिए आकर्षण का विषय बन जाता है। दुनिया

के लोग ऊँचे व्यक्तित्व की ओर खिंच आते हैं। वही यशस्वी मनुष्यों की उज्जवल कीर्ति का रहस्य है।

सभी पदार्थ अपने समान-धर्म वस्तुओं को अपनी ओर अपनाते हैं—यही नियम है जिसके कारण एक चित्रकार आकाश में तैरते बादलों और रम्य प्रदेशों का सौन्दर्य देखकर मुग्ध होता है। कवि के लिए प्रकृति का हर रूप उसकी कविता का प्रतीक हो जाता है। निराश व्यक्ति के हृदय में वही दृश्य अन्धकार और उदासी की भावनाएँ जगाते हैं। ऐसे विकृतमना व्यक्ति की आत्मा उसके शरीर में कुचली और दबी-सी पड़ी रहती है। बाधाओं और विघ्नों से हमें नया उत्साह और नई उमंग मिलनी चाहिए। आपके विघ्न अभिशाप नही, वरदान हैं। उन विघ्नों के रूप में प्रकृति हमें उल्टे रास्ते पर न चलने के लिये चेतावनी देती है। हमें उस चेतावनी के लिये कृतज्ञ होना चाहिए।

कमर कसकर जीवन-संग्राम में युद्ध करने को तैयार हो जाइए। जो उपकरण आपके हाथ में हैं उनके प्रयोग के लिए अपनी शक्ति को केन्द्रित कर दीजिए। जो परिस्थितियाँ आपके चारों ओर हैं उनका अधिक से अधिक उपयोग करने के लिए दत्तचित हो जाइए। आपका कार्य-क्षेत्र ही आपका देवालय है। हाथ के काम को पूरे मन से, पूरी लगन से कीजिए। अपने उपयोगी कार्य को दिलचस्पी के साथ करना ही सबसे बड़ा मनोरंजन है। इस कार्य द्वारा हो आप अपने को संसार में व्यक्त कर सकते हैं। यह अभिव्यक्ति ही मनुष्य का विकास करती है।

इस व्यापक विश्व में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान है। जिसने अपने योग्य स्थान का ज्ञान पा लिया, वह संसार की लहरों के साथ खेलता हुआ, तैरता हुआ पार हो जायगा और उसका जीवन संसार के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी योग्यता को परख कर अपने अनुकूल कार्य का चुनाव कर ले। जिस काम में उसके गुणों का सबसे अधिक प्रदर्शन हो सके वही काम उसके योग्य है। एक बार अपना कार्य-क्षेत्र चुन कर उसे सफल बनाने के लिए हमें तन-मन से लग जाना चाहिए। प्रत्येक पुरस्कार के लिए मूल्य चुकाना होगा। हम जितनी कुर्बानी करेंगे उतना ही पायेंगे। जहाँ कुर्बानी में आनन्द आये वहीं

हमारा स्थान है। आनन्द-प्रेरित काम ही मनुष्य का विकास करता है। आनन्द से ही सब प्राणियों का जन्म होता है और आनन्द में ही विलोप।

कभी इस भ्रम में मत पड़िये कि आप कभी किसी जादू, चमत्कार या दैवी कृपा से किसी काम में सफलता पा सकेंगे। यश और सफलता के मार्ग की कोई पगडण्डी नही है। रास्ता काटकर आप थोड़े समय में वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। यह भी सच नहीं है कि थोड़े से ईश्वरीय कृपापात्र व्यक्ति ही सफलता के शिखर तक पहुँच सकते हैं। ईश्वर की कृपा के पात्र सभी व्यक्ति होते हैं। उसका किसी पर अनुचित पक्षपात नहीं है। शिखर तक पहुँचने के लिए मनुष्य को साधनों की आवश्यकता है, उन्हें उसे स्वयं जुटाना पडता है।

सम्पूर्ण साधनों के होते हुए भी यदि आप सफलता के शिखर पर नही पहुँच पाते, तो भी दैव को कोसना उचित नहीं है। सच्चे हृदय से यात्रा करने में जो आनन्द है वही आनन्द शिखर पर पहुँचने में है। सफलता किसी निश्चित स्थल का नाम नहीं। यह तो केवल मन की अवस्था का नाम है। जिसकी मानसिक अवस्था स्वस्थ और आनन्दमयी है, वह असफल या निरानन्द हो ही कैसे सकता है? स्वस्थ चित्त व्यक्ति कभी क्षणिक शोक-मोह आदि विकारों से प्रताड़ित नहीं होता। असफलता और निराशा उसके मानसिक सन्तुलन को कभी विचलित नहीं करती, उसे निश्चेष्ट नहीं बनाती।

—'चरित्र-निर्माण' से

उत्साह

रामचन्द्र शुक्ल

दु:ख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दु:खी होते हैं और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिये प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आने वाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने उसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दानवीर, दया-वीर इत्यादि भेद किये हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध वीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहो होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायेगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला

जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह है कि आनन्द-पूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अन्तर्निहित रहती है। दान-वीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई दे। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे काम विकट होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मण्डित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव प्रदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटने वाला प्राणी नही है। मानसिक क्लेश की सम्भावना-से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढकर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निन्दास्तुति की कुछ भी परवाह न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर बड़े बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवाह न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले वीर या उत्साही कहलाते हैं। यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं, उसकी ओर उनका ध्यान लेश मात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक से अधिक महत्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनन्द की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवाह नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस——भाव की दृष्टि से——कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा——चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो——की उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़ने वालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज सुधार के वर्तमान आन्दोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गम्भीर पुरुष पाये जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-चौड़े दास्तान हर दम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की सम्भावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गन्दगी फैलाते पाये जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को पर-पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता।

यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर-कर्म मात्र के सम्पादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़ा-बहुत आराम, विश्राम, सुभीते इत्यादि का त्याग सब में करना पड़ता है, और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबन्ध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साह वाले वीर को कर्म-वीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर—यह प्रश्न मुद्रा-राक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं, शास्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि-द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है, अतः कर्मवीर ही ठीक कहना है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पण्डित से भिड़ने के लिए कोई

विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाये जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनन्द की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलम्बन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है, वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिये तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर, और धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दया-वश, श्रद्धा-वश या कीर्ति-लोभ-वश दिया जाता है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया-वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुःसाध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिये जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं

उसका कारण समुद्र नहीं, समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करता है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है —

१. कर्म-भावना से उत्पन्न,
२. फल-भावना से उत्पन्न और
३. आगन्तुक, अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनन्द की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक को कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनन्द उसी फल की भावना की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मन्द पड़ती है उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब-तब आनन्द की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एक रस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साही ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना

के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचाने वाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छामात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गये तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्गमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा। और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा, उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-

सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्त की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के पीछे इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान करा के व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है। इससे आसक्ति उसी में चाहिये; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करने वाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जीवन बीता वह संतोष या आनन्द में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-कर्म के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार परम्परा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक ओषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़धूप करता जाता है तब तक उसके चित में जो संतोष रहता है, प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है, वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रत्यन की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-विचार होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्ता

को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता, जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख कर लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किये जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सब को वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रगट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित

रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

—'चिन्तामणि (१)' से

सत्य और न्याय के नाम पर

प्रभाकर माचवे

आज की दुनिया क्या है? एक खासा अजायबघर है। सब आदमी अपनी-अपनी हाँक रहे हैं। नतीजा यह है, कि कोई किसी की नहीं सुनता! कल जो नया था आज पुराना पड़ गया है; आज जिसे हम नया कह कर पुकारते हैं वह आने वाले कल नहीं तो परसों-अतरसों जरूर पुराना पड़ जायेगा। इस तरह से एक जमाने में जिन्हें बड़े-बड़े मूल्य कहा जाता था, उनकी दर बहुत गिर गई है, गिर रही है और गिरती जायगी। दुनिया में सब तरह के लोग हैं और कहाँ-कहाँ तक किसी को रोका जा सकता है। सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम सब ऊँची-ऊँची चीजों को इन भले-मानुसों ने लाकर नीचे के स्तर पर उतार दिया है। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इन्होंने इन बड़े-बड़े आदर्शों का उपयोग कर लिया है। अपनी खिचड़ी पकाने के लिए ये लोग यूनानी देवता प्रामीथियस की तरह स्वर्ग से आग चुराने में भी नहीं हिचकिचाते।

आज हम कुछ ऐसी बातें कहने जा रहे हैं, जो सत्य और न्याय के नाम पर की जाती हैं। सत्य क्या है और असत्य क्या है यह आज तक बड़े-बड़े विचारकों को भी ठीक से नहीं मालूम हुआ, तो हम और आप किस खेत की मूली हैं? जो मेरा सत्य है वह आपका असत्य हो सकता है और फिर यह भी सत्य है, कि मेरा सत्य भी आज एक हो, कल दूसरा हो सकता है। कुछ दार्शनिकों ने कहा, कि ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब मिथ्या है। मैं पूछता हूँ, कि ब्रह्म भी सत्य क्यों है? ब्रह्म भी एक बड़ा भ्रम क्यों नहीं माना जाय? आज तक दुनिया के सब धर्म और मजहब सत्य को पाने के लिए रहे हैं; परन्तु उनके हाथ सिवा बालू और परछाई के कुछ नहीं लगा। सत्य के नाम पर बड़े-बड़े झूठ दुनिया में नकाब ओढ़े घूम रहे हैं। सत्य बेचारा कहीं उन्हें देख ले तो खुद ही अपना 'राम नाम सत्य है' बोल दे।

सच बात यह है, कि न्यायालयों में और बाहर प्रतिक्षण, प्रतिदिन कितने तरफ की कसमें लोग नहीं खाते होंगे, कितने शपथ नहीं लेते होंगे कितने प्रण नहीं करते होंगे! परन्तु उनमें से ९९ प्रतिशत ऐसे होते हैं, जो निबाहे नहीं जाते। वादा किया ही इसलिए जाता है, कि उसे पूरा न किया जाय। आज सबेरे से उठ कर मैंने प्रतिज्ञा की, कि मैं बिल्कुल सत्य बोलूँगा और उससे कम कुछ नहीं। हमारे पड़ोसी बहुत बीमार थे और उनके लिए डाक्टर के पास दवा लेने पहुँचा। उन्होंने बतलाया, कि उनकी हालत बहुत नाजुक है और अब चन्द मिन्टों के ही वे मेहमान हैं। मैं वापस पडोसी के घर पहुँचा। उन्होंने पूछा—डाक्टर की क्या राय है? अभी कुछ जिन्दा रहने की आशा है? अब मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि सत्य ही बोलूँगा। कह दिया—डाक्टर की राय है, कि आपकी हालत बहुत खराब है और आप ज्यादा देर नहीं जियेंगे। आप कल्पना कर सकते हैं, कि इसका परिणाम क्या हुआ होगा।

मैं खाना खाने बैठा। कसम खा बैठा था, कि सत्य ही बोलूँगा। उस सत्य से इधर-उधर न होऊँगा। पत्नी ने खाना कुछ बे-मन से बनाया था। चावल कच्चे थे, रोटी अधसिकी थी, दाल में नामक ज्यादा था और साग में मिर्च। मैं खा रहा था और कुछ मुँह भी शायद बना रहा था। पत्नी ने पूछा—खाना कैसा बना है? क्या पसन्द नहीं आया? मैंने सत्य कह दिया—"हाँ, बहुत रद्दी बना है। तुमसे ऐसा उम्मीद नहीं थी।" यह कहना था, कि श्रीमती जी बिगड़ उठी। कहने लगीं—"अब मैं तुम्हारी बातें और नहीं सह सकती। मैं सीधी मैंके चली जाऊँगी।" दफ्तर गया तो वहाँ भी एक दोस्त से लड़ाई हो गई। वह नये-नये सूट और टाई में बहुत रोब से आया था। उसने पूछा—"क्यों भाई, आज यह नया सूट कैसा सिला है?" स्पष्ट था, कि मैं कुछ उसकी तारीफ, झूठ ही क्यों न हो, कर देता! परन्तु मैंने तो सत्य बोलने का बीड़ा उठा लिया था। मैंने सत्य बात कह दी—"मित्र, तुम्हारी यह शक्ल और उस पर ये कपड़े? तुम खासे बावर्चीनुमा दिखाई देते हो।" मित्र बहुत नाराज हो गया।

सत्य को इसी कारण से शायद कड़ुआ कहा गया है। सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्! सत्य बोलो पर मीठा बोलो। यानी कुनैन तो दो पर जरा शक्कर लिपटी हुई। सत्य के नाम पर इसी तरह की पानी-मिली हुई या वेजीटेबल मिली हुई या

ऐसी और ही मिलावट से भरी बातें दुनिया में दिखाई देंगी। उदाहरणतया आजकल का कोई भी रोजगार ले लीजिये। ज्योतिषी कहता है, कि मैं आपके भविष्य की सब बातें सच-सच बता दूँगा; परन्तु ऐसी गोलमाल बातें वह करता है, कि उसमें की शायद सौ में से एक या आधी बात सत्य निकलती है। बाजार में किरानी की दूकान में पहुँचिये तो वह शुद्ध घी, खालिस दूध, असली केशर और बढ़िया बादाम बतलाता है। मगर घी में न जाने कितनी बनस्पति की मिलावट होती है, दूध का मक्खन पहले ही निकाला जा चुका होता है; केशर को भुट्टे के बालों को रँगकर बेचते हैं और बादाम अक्सर कड़वे निकलते हैं। वही हाल फलों का है। प्रेमचन्द की 'काश्मीरी सेब' कहानी प्रसिद्ध है। सड़े हुए, हरे, खट्टे, कच्चे फल कई बार अच्छे फलों के साथ मिलाकर दे दिये जाते हैं। फूल भी आजकल नकली मिलने लगे हैं और प्रकृति की हर चीज जब झूठी और ढंग से बनाई हुई मिलने लगी तब आदमी, औरत और दिल-ओ-दिमाग भी उसी तरह के मिलने लगे हों तो कोई अचरज नहीं।

राजनीति में, समाज में, आलोचना में सब जगह सत्य के नाम पर स्वार्थ पोषण ही विशेष दिखाई देता है। युद्धकाल में प्रत्येक देश अपने आपको सत्य का ठेकेदार बतलाता है। आलोचना करते समय यही देखा गया, कि दूसरे में हम वही दोष देखना चाहते हैं, जो हम स्वयं में छिपाना चाहते हैं। सत्य के नाम पर ऐसी ही धोखा-धड़ी सब जगह देखने को मिलती है। जो घर का सत्य है वह मुहल्ले में जाकर सत्य नहीं रह जाता, जो मुहल्ले का सत्य है वह शहर में जाकर सत्य नही रहता। जो नगर का सत्य है वह राष्ट्र का नहीं और जो राष्ट्र का है वह अनेक राष्ट्रों का सत्य नहीं कहलाता।

सत्य से अधिक पिटाई बेचारे न्याय की हुई। न्याय वैसे बना है 'नय' धातु से, जिसमें निष्पक्षता, समानता, एक-सा व्यवहार अपेक्षित है, परन्तु न्यायालयों में जाकर देखिये। हजारों बेगुनाह सजा पा रहे हैं और कई पक्के गुनहगार सबूत के न होने से मजे में घूम रहे हैं। जॉन गाल्सवर्दी ने अपने 'जस्टिस' नामक नाटक में यही बात कही है। न्याय की दुहाई देकर अल्पसंख्यक बहुसंख्यक से भी अधिक शक्तिवान् बनना चाहते हैं; न्याय के नाम पर ऐसी-ऐसी झूठी गवाहियाँ पैदा की जाती हैं। नन्दकुमार को फाँसी देने से पहले उसके विरोधी पक्ष के वकील

ने उँगली से एक, दो, तीन, लाख कहकर एक गवाह को फोड़ लिया। आखिरी वक्त उस गवाह ने कह दिया—"अब तक जो मैं कह रहा था वह सब निरा सपना था। गर्मी के दिनों में अक्सर हिन्दुस्तान में बड़ी रात तक नींद नहीं आती।" और इस तरह वह गवाह पागलों में शामिल कर लिया गया।

न्याय के नाम पर प्रतिदिन खूनी और उसकी मदद करने वाले साजिश में शामिल लोग अपना बचाव करना चाहते हैं। वे इस तरह से अपना जाल खड़ा करते हैं, कि यों जान पड़े, कि मान उनका इस सारे खून के केस में कोई हाथ ही नहीं था। दुनिया के बड़े-बड़े प्रसिद्ध केसों में यही होता आया है।

क्योंकि आखिर न्याय देने वाला भी तो कोई परमात्मा नहीं? आदमी होने के नाते वह भी उतना ही कमजोर है जितना, कि वादी या प्रतिवादी। मान लीजिए 'अ' और 'ब' दो राष्ट्र हैं, जो आपस में लड़ पड़े। दोनों के पास खासी दलीलें अपने-अपने पक्ष के न्याय में हैं। अब यह कैसे निश्चय किया जाय, कि कौन किस पर अन्याय कर रहा है? 'अ' का दावा है, कि उस पर अन्याय हो रहा है, 'ब' का दावा है, कि उस पर। न्याय का ठेका तो किसी ने नहीं ले रखा है? तोजो को फांसी देने से पहले एक भारतीय न्यायाधीश का मत कुछ दूसरा ही निकला, और विधान परिषद् में हिन्द का प्रेसीडेंट ईश्वर में विश्वास रखने वाला हो, उसके नाम शपथ ले, इस बारे में भी एक राय होनी मुश्किल हो गई। ऐसी हालत में अगर मेरे दोस्त ने मेरी किताब चुरा ली और मैंने कहा, कि यह उसने अन्याय किया तो इस विषय में भी मेरे दोस्त की राय शायद मुझसे कुछ दूसरी ही हो। इसलिए दो बिल्लियाँ जब झगड़ीं तो उन्होंने बन्दर को अपना न्यायाधीश बनाया और चूहे अपनी सभा में हर वक्त प्रस्ताव करते रहे, कि बिल्ली के गले में घंटी बाँधी जाय, पर म्याऊँ का मुँह कौन पकड़े? यह सवाल बना ही रहा।

कभी-कभी न्याय के नाम पर की जाने वाली बातों के बारे में निर्णय देना सचमुच कठिन हो जाता है। अंग्रेजी कानून के प्रसिद्ध मुकदमों में एक केस मे-पोल का है। एक दिन शाम के झुटपुटे में एक गाड़ी हाँकने वाला ऐसी गली से चला जा रहा था जिसमें चढाई थी। गली के सिरे पर, जैसे होली के उत्सव में हमारे यहाँ एरंड का पेड़ गाड़ते हैं वैसे मई मास में डंडा वहाँ गाड़ा जाता है, वह लगाया गया था। यह गाड़ी वहाँ जाकर टकराई। गाड़ी चलाने वाले की आँखें दूर तक देख नहीं

सकती थीं, कुछ कमजोर थीं। गाड़ी जाकर उस मे-पोल पर टकराई। गाड़ी में लदा माल गिर गया, बिखर गया। अब यह नुकसान किसकी वजह से हुआ, कौन न्याय करे? गाड़ीवान की आँखों का कमजोर होना। इसके लिए उसके माँ-बाप जो छुटपन से चश्मा पहनते थे, दोषी हैं या शाम के झुटपुटे के लिए बादल और सूर्य भगवान। अतः दावा किया भी जाय तो सूर्य पर करना चाहिए; परन्तु वहाँ न्यायाधीश कौन बनेगा?

उसी तरह से कई बार ऐसी घटनाएँ हो जाती है, कि जिनमें न्याय करना असंभव हो जाता है, क्योंकि सत्य और असत्य की सीमा रेखा कुछ स्पष्ट नही दिखाई देती। यूनान में एक बार एक विद्यार्थी अपने वकील गुरु के पास न्यायशास्त्र पढ़ रहा था। तै यह हुआ कि आधी फीस शुरू में देकर आधी फीस वह बाद मे तब देगा, जब कि वह अपना पहला मुकदमा जीत लेगा। इस प्रकार पूरा न्यायशास्त्र सीख लेने के बाद भी जब वह शिष्य वकालत कर ही नहीं रहा था, तब गुरु को बड़ी चिन्ता पड़ी, कि उसकी फीस डूब गई। गुरु ने शिष्य पर दावा ठोंक दिया। गुरु का तर्क यह था, कि यदि शिष्य मुकदमा जीत जाता है तो पूर्व-निश्चय के अनुसार इसे आधी फीस देनी ही चाहिये, यदि शिष्य हारता है तो उसे अपनी आधी फीस मिलनी ही चाहिये; क्योंकि गुरु जीत गया है। शिष्य ने इस तर्क के उत्तर में तर्क प्रस्तुत किया, कि यदि वह जीतता है तो आधी फीस उसे देने की कोई आवश्यकता नहीं और हारता है तो भी देने की आवश्यकता नहीं। बोलिये ऐसी हालत में न्याय देना है न मुश्किल बात?

न्याय के नाम पर सेंट जोन को फाँसी दी गई, सुकरात को जहर पीना पड़ा, ईसा को सूली दी गई और ऐसे कई उदाहरण इतिहास प्रस्तुत कर सकता है। धोबी के कहने पर सीता जैसी पत्नी को निर्वासित कर देना कहाँ का न्याय था? केवल सपने में दिये वचन की सत्यता की पूर्ति के लिए हरिश्चन्द्र का शैव्या-रोहित तक को जलील करना कहाँ का न्याय था? जब दुर्योधन गांधारी की आँखो की पट्टी खुलवा कर दिव्य दृष्टि से शरीर का सम्पूर्ण अमरत्व प्राप्त करना चाहता था, तब उसे फूल की चड्डी पहिनवाने में कृष्ण ने कौन-सा न्याय दिखलाया? अश्वत्थामा मर गया, 'नरो व कुंजरो वा!' (हाथी है कि आदमी पता नही!) यह कहना कहाँ तक न्यायसंगत था? और जुए में अपनी पत्नी द्रोपदी को दाँव

पर चढ़ा कर हार जाना कहाँ का न्याय है ? फिर भी पुराणों में और रामायण-महाभारत में इन बातों पर लड़ाइयाँ हो गई हैं; बड़ी भारी बातें घटित हो गई हैं। आजकल का राम होता तो तलाक दे देता; आजकल के पांडव होते तो कहते एक 'रबर' हार गये कांट्रैक्ट ब्रिज में तो क्या हुआ, कल फिर खेल लेंगे।

न्याय या 'लॉ' पढ़ने के नाम पर 'लॉलेस' विद्यार्थी कैसा-कैसा और क्या-क्या अन्याय नहीं ढाते ? जब वे इविडेंस एक्ट पढ़ते हैं तो गवाह झूठे सिद्ध करने के ढंग सीखते हैं, जब वे 'कांट्रैक्ट-एक्ट' पढ़ते हैं तो इकरारनामे में कौन से दोष दिखलाये जायँ यह सीखते हैं, जब वे फौजदारी कानून पढ़ते हैं तो डाके को चोरी कह कर और ऊपर से सीनाजोरी कैसे की जाय यह सीखते हैं, जब वे विवाह के कानून पढ़ते हैं तब गैर कानूनी या गंधर्व-विवाह की कल्पनाएँ सोचते रहते हैं। दुनिया में तीन हजार बरस से हजरत मूसा और मनु महराज और कई बड़े-बड़े न्यायाचार्य न्यायशीलता सिखाते आ रहे हैं; परन्तु पता नहीं कैसे और क्यों आदमी अभी भी गुनाह किये बिना नहीं रहता ? पाप किसे कहा जाय यह तय करना मुश्किल है; क्योंकि तिब्बत में सब से मैली-कुचैली और बिना नहाई महिला को सुन्दरी कहा जाता है, वैसे ही अफ्रीका में और कई जंगली जातियों में लड़की को भगा ले जाना वीरता का लक्षण माना जाता है, कोई पाप नहीं। हमारे यहाँ तो पापों की सूची में नाखून चबाना और विदेशी भाषा बोलना-पढ़ना भी पाप माने गये हैं; समुद्र की यात्रा करना पाप है और चोटी न रखना तो महापाप है; परन्तु अब जैसे पाप की व्याख्या बदल गई, वैसे ही अन्याय की भी बदल गई है। कभी ब्राह्मण दूर से अछूत को जूठी रोटी फेंक दे यह न्याय था; आज यह घोर अन्याय है। कभी स्त्रियों के साथ पैर की जूती की भाँति व्यवहार करना न्याय था, आज भयानक अन्याय है। इसलिए न्याय भी कोई सनातन या स्थिर नहीं रहता, व्यक्ति, देश और काल के अनुसार बदलता रहता है।

मेरे एक मित्र हैं जो अपनी पत्नी को पीटना बड़ी न्यायपूर्ण बात समझते हैं, उसमे उलटे एक देवी जी हैं जो अपने पति के साथ वही न्याय बरतना चाहती हैं। मैं कहता हूँ, कि पीटना कार्य अन्यायपूर्ण है, परन्तु जब मुन्नी बहुत हठ कर बैठती है तो मैं भी उसी अन्तिम ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर बैठता हूँ। जो बात इस छोटे से पीटने के उदाहरण में सही है, वही अन्य सब बातों के न्यायसंगत होने न

होने के बारे में सही है। शाकाहार मांसाहार से अधिक न्यायपूर्ण है, उसकी दलील बर्नार्ड शॉ ने यों दी थी, कि एक अनार का दाना ले जाइए, बोइये तो उसमें से कई अनार निकलेंगे, उलटे एक छोटी-सी हड्डी जो चूसकर फेंक दी गई हो उसमें से दुबारा मछली या बकरी नहीं पैदा हो सकती। उसी तरह कई बातों की न्यायपूर्णता के विषय में मुझे सन्देह है, चाहे आपको न हो। कई भाई समझते हैं कि, किसी बड़े आदमी का नाम ले लेने से न्याय उनके पक्ष में हो जाता है, परन्तु सत्यता यह है, कि इस प्रकार का नाम निरा बुर्के का काम करता है। यह क्या न्यायपूर्ण बात है, कि स्त्रियों को पर्दे में रखा जाय? यह क्या न्यायपूर्ण बात है, कि आदमी की कीमत उसकी तनख्वाह और उसके सामाजिक स्थान (स्टेटस) से की जाय? क्या यह न्यायपूर्ण है, कि पुरुष चाहे जितने विवाह करे और स्त्री के एक पतिव्रत की तारीफ में पुल बाँधे जायँ? क्या यह न्यायपूर्ण है, कि मैं इस तरह की अपनी-अपनी धुन, अपने-अपने राग की बातें सुनाऊँ और आप बिना हँसे, बिना गुदगुदी महसूस किये सुनते ही चले जायँ?

सत्य और न्याय के नाम पर इस तरह दुनिया में, इतिहास में और साहित्य में, आज तक अनेक बातें हुई हैं जिससे मन प्रसन्न भी हुआ है और खिन्न भी। भिश्ती को जब डेढ़ दिन की बादशाहत मिली तो अपने चमड़े की मशक के सिक्के उसने बनाये और सत्य और न्याय के नाम पर चलाये। उसी तरह से रोज न्यायालयों में जो बहस-मुबाहसे होते हैं, सत्य की ओट में अन्याय छिपने की और न्याय की ओट में अन्याय अपनी कालिमा धोने का जो प्रयत्न करता है वह भी नित्य का परिचय है।

अन्त में आपको 'विधाता' नाम की एक छोटी बंगाली कहानी सुनाता हूँ, जो मैंने बनफूलेर गल्प में पढ़ी थी, उससे न्याय के सत्य रूप का पता लग जायगा। एक दिन ब्रह्मा जी अपनी भंग-वंग छान मौज में बैठे थे कि आदमियों की भीड़ की आवाज सुनाई दी। वे चिल्ला रहे थे, कि——बाघ का बड़ा उपद्रव है। वह हमें खा जायगा। विधाता ने सुनकर कहा——'अच्छा'। फिर बाघ उनके दरबार में पहुँचा, बोला——'आदमी हमें बहुत सता रहे हैं। हमें जीने भी दोगे या नहीं?' विधाता ने सुनकर कहा——'अच्छा!' इसी तरह चीन देश से पुकार उठी, कि

जापान हमें तंग कर रहा है। विधाता ने सुनकर कहा—'अच्छा!' और जापान से इसी तरह की शिकायत आई, कि चीन हमें तंग कर रहा है। फिर विधाता ने कहा—'अच्छा!' अंततः दोनों पक्ष की शिकायतें सुनते-सुनते विधाता के कान पक गये और आखिर में चतुरानन अपने आठ कानों में सरसों का तेल डाल कर लम्बी तान कर सो गए। वह तब के सोये हैं सो अभी तक जागे नहीं।

—'बेरंग' से

भोर का तारा

जगदीशचन्द्र माथुर

स्थान––गुप्त साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का गृह।

समय––सन् ४५५ ई० के आसपास।

पात्र-पात्री

शेखर : उज्जयिनी का कवि।

माधव : गुप्त-साम्राज्य में एक राज्य-कर्मचारी (**शेखर का मित्र**)।

छाया : शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी।

[कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएँ अस्त-व्यस्त। बाईं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चादर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रखी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (**या कागज**) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी है जिस पर कुछ पात्र रखे हुए हैं।

पीछे की ओर एक खिड़की है। बायाँ दरवाजा अन्दर जाने के लिए है और दायाँ बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताखे हैं, जिनमें दीप-दान या कुछ और वस्तुएँ रखी हैं।

शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी-कभी तख्त पर बैठ कर कुछ लिखता है। जान पड़ता है वह कविता बनाने में संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है। उसे लिखता भी जाता है।]

शेखर : "अँगुलियाँ आतुर तुरन्त पसार"

खींचते नीले पट का छोर··· (**दुबारा कहता है, और फिर लिखता है**)

टँका जिसमें जाने किस ओर...

स्वर्णकण ··· स्वर्णकण ··· (**पूरा करने के प्रयास में तल्लीन है, इतने में बाहर से माधव का प्रवेश। सांसारिकता का भाव और जानकारी उसके चेहरे**

से प्रकट है। द्वार के पास खड़ा होकर थोड़ी देर तक वह कवि की लीला देखता है। उसके बाद)

माधव : शेखर!

शेखर : **(अभी सुना नहीं। एक पंक्ति लिखकर)** "स्वर्णकण प्रिय को रहा निहार"।

माधव : शेखर!!

शेखर : **(चौंक कर)** कौन? ...ओह! माधव! **(उठकर माधव की ओर बढ़ता है।)**

माधव : क्या कर रहे हो शेखर?

शेखर : यहाँ आओ माधव, यहाँ, **(उसके कन्धों को पकड़कर, तख्त पर बिठाता हुआ)** यहाँ बैठो! **(स्वयं खड़ा है)** माधव, तुमने भोर का तारा देखा है कभी?

माधव : **(मुस्कराते हुए)** हाँ! क्यों?

शेखर : **(बड़ी गम्भीरतापूर्वक)** कैसा अकेला-सा, एक टक देखता रहता है? जानते हो, क्यों? ...नहीं जानते! **(तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ)** बात यह है कि एक बार रजनी बाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहन कर, जिसमें सोने के तारे टँके थे, ज्यों ही निकट पहुँची, त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली। **(रुककर)** फिर क्या हुआ?

माधव : **(कुछ उद्योग के बाद)** प्रभात अकेला रह गया।

शेखर : नहीं! उसने अपनी अँगुलियाँ पसार कर उसके नीले पट का छोर खींच लिया। जानते हो, यह भोर का तारा है न, इसी छोर में टँका हुआ सोने का कण है, एक टक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है। ...क्यों?

माधव : बहुत ऊँची कल्पना है! लिख चुके क्या?

शेखर : अभी तो और लिखूँगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गये—

माधव : **(हँसते हुए)** और अब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे हो, आकाश में नहीं। **(रुककर)** मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर!

शेखर : **(भोलेपन से)** क्यों?

माधव : तुम्हारी परियों और तारों की दुनिया में मैं मनुष्यों की दुनिया लेकर आ गया।

शेखर : **(सच्चेपन से)** कभी-कभी तो मुझे तुम में भी कविता दीख पड़ती है!

माधव : मुझमें? ... **(जोर से हँसकर)** तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो? ... **(गम्भीर होते हुए)** शेखर कविता तो कोमल हृदयों की चीज है, मुझ जैसे काम-काजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने ही भर से मुरझा जायगी। हम लोगों के लिए तो दुनिया की और ही उलझनें बहुत हैं।

शेखर : माधव तुमने कभी यह भी सोचा है कि उन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है?

माधव : और हम लोग करते भी क्या है? रात-दिन मनुष्यों की नई-नई उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शेखर : यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मंत्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी-गरीबी, युद्ध और संधि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो, परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं पर तुम उन्हें पागल——

माधव : कवि! **(अवहेलनापूर्वक)** तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो। तुम सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है, हम जागते रहते हैं और देखते रहते हैं कि जीवन कर्त्तव्य है।

शेखर : **(भावुकता से)** मुझे तो सौन्दर्य ही कर्त्तव्य जान पड़ता है, जहाँ कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है। **(स्वर बदलकर)** माधव, तुमने सम्राट् के भवन के पास, राजपथ के किनारे उस अंधी भिखमंगी को कभी देखा है?

माधव : **(मुस्कराहट रोकते हुए))** हाँ!

शेखर : मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों?

माधव : क्यों? **(कुछ सोचने के बाद)** "दया सज्जनस्य भूपणम्"।

शेखर : दया! हूँ। **(हटकर)** मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ, क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक व्यथा झलक पड़ती है। उसका गहरा झुर्रियोंदार चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे **(एक तरफ एकटक देखते हुए,मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो)** उसकी झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो।

माधव : **(इस भाषण से उसका अच्छा खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आँखें गड़ाते हुए)** शेखर, टाट में रेशम का पेबन्द क्यों लगाते हो? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शेखर : **(सरल भाव से)** किस देवी की?

माधव : **(अर्थपूर्ण स्वर में)** यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शेखर : मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को।

माधव : अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर? **(हँस पड़ता है, शेखर कुछ समझ कर झेंपता-सा है)**... पागल।... **(गम्भीर होकर बैठते हुए)** शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार कर होते?

शेखर : **(मन्द, गहरे स्वर में)** कितनी बार पूछोगे?

माधव : बहुत प्यार करते हो?

शेखर : माधव, जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएँ हैं, **(तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ)** छाया का प्यार और कविता। **(खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है।)**

माधव : और छाया?

शेखर : **(वही गहरा स्वर)** हम दोनों नदी के दो किनारे हैं जो एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते।

माधव : **(उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए)** सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शेखर : नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिए तो उनका हृदय सूखा हुआ है।

माधव : क्यों ?

शेखर : तुम पूछते हो क्यों ! तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो। देवदत्त एक मंत्री हैं ! भला एक मंत्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध ?

माधव : मामूली कवि ! शेखर, तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शेखर : और क्या समझूँ ? राजकवि ?

माधव : सुनो शेखर, तुम्हें एक समाचार सुनाता हूँ।

शेखर : समाचार ?

माधव : हाँ, मैं कल रात को राजभवन गया था।

शेखर : इसमें तो कोई नई बात नहीं है। तुम्हारा तो काम ही यह है।

माधव : नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाये। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गये ।

शेखर : **(उकताकर)** आखिर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो माधव ?

माधव : इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था—शेखर।

शेखर : **(चौंककर)** क्या ?

माधव : अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है तो इसके लिखनेवाले कवि को अपने दरबार में बुलाइये। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जायगा।

शेखर : मैं ?

माधव : **(अभिनय करते हुए, झुककर)** श्रीमान्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शेखर : मैं जाऊँगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

माधव : सपने तो तुम देखा करते हो। ...... लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है !

शेखर : हाँ, वह युवती कौन है ?

माधव : अब यह भी बताना होगा? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे।

शेखर : ओह ... छाया? **(माधव का हाथ पकड़ते हुए)** .... तुम कितने ... कितने अच्छे हो!

माधव : और सुनो। ..... सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र के विद्रोह को दबाये। आर्य देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मंत्री बनकर, समझे?

शेखर : **(स्वप्न में से)** तो क्या सच ही छाया ने कहा? सच ही?

माधव : शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे। .... उसके बाद .... उसके बाद छाया कहाँ रहेगी? भला बताओ तो?

शेखर : माधव! **(माधव हँस पड़ता है)** इतना भाग्य? इतना? विश्वास नहीं होता।

माधव : न करो विश्वास। लेकिन भले मानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी? ये बिखरे हुए कागज, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र! शेखर, लापरवाही की भी सीमा होती है।

शेखर : मैं कभी इन बातों की परवाह करता हूँ?

माधव : और फिर?

शेखर : मैं परवाह करता हूँ, फूल की पंखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (**भावोद्रेक से**) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद में समेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारों की ....

माधव : एक चीज रह गई।

शेखर : क्या?

माधव : जिसे तुम दिन में वृक्षों के नीचे फैली देखते हो। **(उठकर खड़ा हो जाता है।)**

शेखर : वृक्षों के नीचे?

माधव : जिसे तुम दर्पण में झलकती देखती हो!

शेखर : दर्पण में?

माधव : जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो ! **(निकट आ गया है।)**

शेखर : **(समझकर, बच्चों की तरह)** छाया !

माधव : **(मुस्कराते हुए)** छाया !

(परदा गिरता है)

[२]

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ और साफ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान है। सामने तख्त पर चटाई और लिखने-पढने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रखे हैं। दूसरी ओर एक पीढा है जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कलापूर्ण एक अँगीठी रखी हुई है। दीवार के एक भाग पर एक अलगनी है जिस पर कुछ धोतियाँ इत्यादि टँगी हैं।)

(**छाया**——सौन्दर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गांभीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है——गृह-स्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक-ठीक स्थान पर सम्हालकर रख रही है। साथ ही साथ कुछ गुनगुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिये उसने अँगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढे पर बैठकर वह अँगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गाने में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज नहीं सुनाई देती है।)

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?
चाँदनी का पाकर नव-स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान
पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान
सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण
प्यार की है क्या पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश। कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रंथ। गले में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुस्कराते हुए छाया का गीत सुनता है।)

शेखर : **(थोड़ी देर के बाद धीरे से)** छाया! **(छाया नहीं सुन पाती है। गाना जारी है, फिर कुछ समय बाद)** छाया!!

छाया : **(चौंककर खड़ी हो जाती है। मुँह फेरकर)**ओह!

शेखर : **(तख्त की ओर बढ़ता हुआ)** छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है?

छाया : **(उत्सुकतापूर्वक)** कौन-सी?

शेखर : **(छोटी चौकी पर पहले तो अपने बगलवाला ग्रंथ रखता है, और फिर उस पर दुशाला रखते हुए)** एक बहुत सुन्दर-सी।

छाया : सुनें, कैसी कहानी है।

शेखर : **(बैठकर)** एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था—युवक और भावुक। राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे, राजा तो उस पर निछावर था। रोज सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता, नई और सुन्दर कविता।

छाया : हूँ? **(पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है।)**

शेखर : परन्तु उसमें एक बुराई थी।

छाया : क्या?

शेखर : वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यो नही सुनाते तो वह उत्तर देता—"मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ।"

छाया : राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ?

शेखर : नही! उसने सोचा, कवि के घर चलकर देखा जाय कि इसमें रहस्य क्या है। रात को तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदल कर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छाया : उसके बाद?

शेखर : उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया है। थोड़ी देर में कही से बहुत मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आप-से-आप चलने लगी।

छाया : फिर?

शेखर : फिर क्या ? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला बताओ तो क्यों नहीं पूछा ?

छाया : बताऊँ ?

शेखर : हाँ !

छाया : राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही उस कवि की कविता थी। और बताऊँ ? (खड़ी हो जाती है।)

शेखर : **(मुस्कराते हुए)** छाया, तुम......

छाया : **(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ)** वह गायिका और कोई नहीं। उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक था, झूठी कहानी। और बताऊँ ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर.. **(इसी बीच में शेखर की मुस्कराहट हल्की हँसी में परिणत हो गई, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते-पहुँचते, दोनों जोर से हँस पड़ते हैं।)**

शेखर : **(थोड़ी देर गम्भीर होते हुए)** लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ, तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती ? तुम तो मेरी कविता हो !

छाया : **(बड़े गम्भीर उलाहना भरे स्वर में)** प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है !

शेखर : क्या मतलब तुम्हारा ?

छाया : कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है; स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है तब सोचता है, 'चलो थोड़ा मन-बहलाव ही कर लें।' स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है मानो दुनिया में और कुछ हो ही न और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता भी नीरव हो जाती है तब पुरुष को चट्टानें

फिर बुलाती हैं और वह ऐसे भागता है मानो पिंजड़े से छूटा हुआ पंछी ! स्त्री के लिए फिर वही अंधेरा, फिर वही सूनापन !

शेखर : **(मंद स्वर में)** छाया तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छाया : क्या तुम एक दिन मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे ?

शेखर : लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ ?

छाया : उँ हूँ, मैं नहीं मान सकती।

शेखर : सुनो तो, मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़ी ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी बाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे उनमें सौन्दर्य दीखता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौन्दर्य दीखता है। जिस रोज मैं तुमसे दूर हो जाऊँगा, उस रोज मैं सौन्दर्य से दूर हो जाऊँगा। अपनी कविता से दूर हो जाऊँगा **(कुछ रुककर)** मेरी कविता मर जायगी।

छाया : नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी, किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी, बहुत दिन रहेगी।

शेखर : मेरी कविता ! **(कुछ देर बाद)**...छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बतलाने आया हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे छिपा रखा था।

छाया : रहने दो, तुम सदा ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया करते हो।

शेखर : नहीं...अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। **(छाया उठाती है)** उसके नीचे कुछ है ? **(छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है)** उसे खोलो...क्या है ?

छाया : **(आश्चर्यान्वित होकर)** ओह, **(ज्यों-ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है।)** "भोर का तारा" उफ़ओह ! यह तुमने कब लिखा मुझसे छिपाकर ?

शेखर : **(हँसते हुए विजय का-सा भाव)** छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था।

छाया : **(शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर)** उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर ? उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो उन्होंने तुम्हें और मुझे माता जी का वह पत्र दिखाया था जिसने हम दोनों को सर्वदा के लिए बाँध दिया।

शेखर : हाँ छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था **(गहरे स्वर में)** आज वह समाप्त हो गया।

छाया : शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शेखर : उसे यहाँ लाओ। **(हाथ में लेकर चाव से खोलता हुआ)** 'भोर का तारा'। छाया, यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊँगा और फिर, फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरम्भ करूँगा, तब, तब, सारे उज्जयिनी की आँखें मेरे ऊपर होंगी। महाकाव्य, महाकाव्य ! उस समय सम्राट् गद्‌गद् हो जायँगे और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा। छाया, बरसों बाद दुनिया पढ़ेगी कवि-कुल शिरोमणि शेखर कृत 'भोर का तारा'—हा, हा, हा—

छाया : शेखर **(वह हँसे जा रहा है।)** शेखर ! **(शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है।)**

शेखर : **(सहसा चुप होकर)** क्यों छाया, क्या हुआ तुमको ?

छाया : **(चिंतित स्वर में)** शेखर ! **(चुप हो जाती है।)**

शेखर : कहो !

छाया : शेखर, तुम इसे सँभाल कर रखोगे न ?

शेखर : बस इतनी ही-सी बात ?

छाया : मुझे डर लगता है कि. . .कहीं नष्ट न हो जाय, कोई इसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम—

शेखर : हा, हा, हा—पगली ! ऐसा क्यों होने लगा ? सोचने से ही डर गई ? छाया, छाया, तेरे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न ! . . . इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं ! और तुम ? जानती हो, तुम कौन हो ? तुम हो तक्षशिला के अधिपति देवदत्त की बहन

और उज्जयिनी के सबसे बड़े कवि शेखर की पत्नी !...तक्षशिला का अधिपति और उज्जयिनी का कवि ! हुँ, हुँ, हुँ।...क्यों छाया ?

छाया : **(मन्द स्वर में)** तुम सच कहते हो, शेखर हम लोग बहुत सुखी हैं।

शेखर : **(मग्नावस्था में)** बहुत सुखी !

(सहसा बाहर कोलाहल। घोड़े की टापों की आवाज। शेखर और छाया छिटक कर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है।)

शेखर : कौन है ?

(सहसा माधव का प्रवेश। थकित और श्रमित; शस्त्रों से सुसज्जित। पसीने से नहा रहा है। चेहरे पर भय और चिन्ता के चिन्ह है।)

शेखर और छाया : माधव !

शेखर : माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

माधव : **(दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ)** शेखर, छाया। **(फिर उस कमरे पर डरती-सी आँखें डालता है मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है)** मैं तुम दोनों से भीख माँगने आया हूँ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है।)

छाया : भीख माँगने, तक्षशिला से ?

माधव : **(धीरे-धीरे मजबूती के साथ बोलना प्रारम्भ करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वर में, भावुकता आती जाती है।)** हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे आ गया, यह मैं नहीं जानता। हाँ यह जानता हूँ कि आज गुप्त-साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर से भीख माँगनी पड़ेगी।

शेखर : गुप्त-साम्राज्य संकट में ? क्या कह रहे हो माधव ?

माधव : **(संजीदगी के साथ)** शेखर पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है।

छाया : **(भयाक्रान्त होकर)** तोरमाण !!

माधव : उसने सिंधुनद को पार कर लिया है, उसने अम्भी-राज्य को नष्ट कर दिया है। उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है--

छाया : **(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो, उसकी भुजा पकड़ती हुई)** तक्षशिला ?

माधव : **(उसी स्वर में)** सारा पंचनद आज उसके भय से काँप रहा है। एक के बाद एक गाँव जल रहे हैं। हत्याएँ हो रही हैं, अत्याचार हो रहा है, शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों के हाहाकार से गूँजने लगेगा। शेखर, छाया,—मैं तुमसे भीख माँगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की, इस संकट में मदद करो। **(बाहर भारी कोलाहल। शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं।)** देखो बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव—तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो, **(शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है।)** आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, ओजमयी कविता के द्वारा तुम गाँव-गाँव में जाकर वह आग फैला दो जिससे हजारों और लाखों भुजाएँ अपने सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। **(कुछ रुक कर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है, जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो।)** कवि, देश तुमसे यह बलिदान माँगता है।

छाया : **(अत्यन्त दर्द भरे करुण स्वर में)** माधव, ! माधव ! !

माधव : **(मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है, फिर थोड़ी देर बाद)** छाया, उन्होंने कहा था "मेरे प्राण क्या चीज हैं, इसमें तो सहस्रों मिट गये और सहस्रों को मिटना है।"

शेखर : **(मानो नींद से जगा हो)** किसने ?

माधव : आर्य देवदत्त ने, अन्तिम समय !

छाया : **(जैसे बिजली गिरी हो)** माधव, माधव, तो क्या भैया—

माधव : उन्होंने वीरगति पाई है, छाया **(छाया पृथ्वी पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढँक लिया। इस बीच में माधव कहे जाता है,**

शेखर एक-दो बार घूमता है। उसके मुख से प्रकट होता है मानो डूबते को सहारा मिलनेवाला है।)

तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में वह हूणों के दल के निकट जा पहुँचे। वहाँ उन्हें ज्ञान हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे और अपने प्राण बचा सकते थे। परन्तु एक सच्चे सेनापति की भाँति उन्होंने अपने सैनिकों के लिए अपने प्राण संकट में डाल दिये और मुझे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतावनी देने के लिए भेजा। मैं आज——

(सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है। उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रंथ "भोर का तारा" को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उसपर जा पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़ने से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़कर अँगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे-धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर करती है।)

छाया : **(उसे फाड़ते हुए देखकर)** शेखर !

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है। लपटें उठती हैं। छाया फिर गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है, फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है। एक रूखी हँसी के बाद बाहर चल देता है। कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज थोड़ी देर तक सुनाई देती है।)

(माधव द्वार की ओर बढ़ता है।)

छाया : **(अत्यन्त पीड़ित स्वर में)** माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया।
(माधव उसके यह शब्द सुनकर बाहर जाता-जाता रुक जाता है। मुड़कर छाया की ओर देखता है। पीछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है। इससे बाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है। शेखर और उसके साथ पूरे जन-समूह के गाने का स्वर सुनाई पड़ता है।)——

"नगाड़े पै डंका बजा है, तू शस्त्रों को अपने सँभाल।
बुलाती है वीरों की तुरही, तू उठ कोई रास्ता निकाल॥"❀

(शेखर का स्वर तीव्र है। माधव खिड़की को बन्द कर देता है। पुनः शान्ति।)

(इसके बाद मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में बोलता है।)

माधव : छाया, मैंने तुम्हारा प्रभात नष्ट नही किया। प्रभात तो अब होगा। शेखर तो अब तक भोर का तारा था। अब प्रभात का सूर्य होगा।

(छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है। पर्दा गिरता है।)

—'भोर का तारा' मे

❀नोट—नाटककार ने बाद में इस एकांकी में इधर-उधर कुछ सुधार करके इस गीत की कड़ियाँ भी इस प्रकार बदली हैं—

अभय जाग जनता जनार्दन!
कहाँ हैं भयंकर तरंगें, कहाँ सो रहा क्रुद्ध गर्जन?
महोदधि तनिक तो उभड़ तू बुलाता तुझे मैं प्रभंजन,
अभय जाग जनता जनार्दन!

—संपादक

बाबू गुलाबराय

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

उस दिन जब सहसा मैं प्रातःकाल बाबूजी के यहाँ पहुँचा तो वे एक लेख लिख रहे थे। समय ७ बजे का था। उनकी लेखनी अविराम गति से चली जा रही थी। लगता था, जैसे कोई तपस्वी समाधिस्थ हो। पहले तो मुझे कुछ संकोच हुआ कि क्यों मैं ऐसे समय उन्हें उनके कार्य में बाधा पहुँचाऊँ। लेकिन गत १५-१६ वर्ष से मैं उनके घर के सदस्यों जैसा ही रहा हूँ, इसलिए मैंने अपने 'नमस्कार' द्वारा उनकी समाधि भंग कर दी! बहुत दिन बाद मैं उनसे मिला था, इसलिए उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मेरा स्वाग तकिया और हाल-चाल पूछा। अपनी स्थिति से अवगत कराकर मैंने बाबूजी से कहा कि आज तो मैं इन्टरव्यू लूँगा।

बाबूजी इस बात पर चौंके और बोले——"आप इतने दिन से मुझसे परिचित हैं, मेरे घर-बाहर की कोई बात आपसे छिपी नहीं है, फिर मेरे इण्टरव्यू की क्या आवश्यकता है?"

मैंने कहा——"बाबूजी मेरे इण्टरव्यू मन-बहलाव के लिए नहीं है, यह आप जानते ही हैं। उनका स्थायी महत्व और साहित्यिक मूल्य है। इसीलिए मैं आपको कष्ट दे रहा हूँ।"

इस पर वे सहमत हो गये और बोले——"अच्छी बात है। आप जो कुछ पूछना चाहें, पूछें।"

मैंने उनसे सबसे पहले प्रश्न किया——"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके साहित्यकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई?"

उन्होंने उत्तर दिया——"मेरे घर का वातावरण धार्मिक था। इसका परिणाम यह हुआ कि आठवें दर्जे तक उर्दू-फारसी पढ़ने पर भी मुझे संस्कृत और हिन्दी से प्रेम हो गया। मेरी माताजी सूर, तुलसी और कबीर के पद गाया करती थीं।

"कथा-वार्ता का आयोजन भी जब-तब होता रहता था। इस वातावरण का प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर पड़ा और मेरे मंस्कारों में साहित्यिकता का बीज पड़ गया। मंस्कृत के प्रति मेरा ऐसा झुकाव हुआ कि मैंने नवें दर्जे में ही संस्कृत ले ली और बी० ए० तक पढ़ी। मैंने उसके पश्चात् स्वाध्याय से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। उस धार्मिक वातावरण का ही यह भी फल हुआ कि मैंने एम० ए० दर्शनशास्त्र में किया।"

"लेकिन आप साहित्य में कैसे आ गये? आपको दार्शनिक रहना चाहिए था।"—मैंने पूछा।

वे बोले—"इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति को आप साहित्य का साधन ही समझिये, बाधक नहीं। कारण सन् १९१३ में जब मैं अपने दर्शन के बल पर छतरपुर में दार्शनिक सलाहकार बनकर गया, तो वहाँ मुझे मिश्र-बन्धुओं के सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला। उनकी देखा-देखी मुझे भी हिन्दी में लिखने का शौक हुआ। यों आरम्भ से ही मुझे लेखन में रुचि तो थी, पर मैं अंग्रेजी में लिखा करता था। मिश्र-बन्धुओं के सहयोग से हिन्दी की ओर मेरी रुचि हुई। सौभाग्यवश मुझे कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन जैसे कलाकार प्रकाशक का सहयोग भी मिल गया। फलत: सबसे पहले 'शान्ति-धर्म' नामक पुस्तक निकली। उसके बाद 'फिर निराशा क्यों?' और 'मैत्री-धर्म' का प्रकाशन हुआ तथा 'कर्त्तव्य-शास्त्र' और 'तर्क-शास्त्र' आदि ग्रन्थ निकाले। ये सब ग्रन्थ मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति के परिचायक थे परन्तु जब एक बार मैनपुरी में अन्धे पण्डित धर्मराज शास्त्री से रसों के बारे में यह सुनकर बहुत स्फूर्ति हुई कि रस-सिद्धान्त में बहुत मनोवैज्ञानिक सामग्री है। इस प्रकार दर्शन की ही लकड़ी टेकते हुए मैंने साहित्य में प्रवेश किया। रस के अध्ययन के लिए छतरपुर में प्रचुर सामग्री थी और पंडितों का समागम भी। फलस्वरूप वहाँ ही 'नव रस' नामक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ और मैं साहित्यिकों की बिरादरी में गिना जाने का प्रमाण-पत्र पा गया।"

सरस भाव से वे अपनी बात कह रहे थे। हाथ में पिनों की डिबिया थी, जिसकी ढक्कन वाली गद्दी में वे पिन गड़ाते और निकालते जा रहे थे। मुझे लगता था मानों वे चिन्तन की गति के साथ तारतम्य मिलाने के लिए ऐसा

कर रहे हों। जब मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने समाप्त किया तो मैंने उनसे पूछा––"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन से हैं, जिनको आप अधिक पसन्द करते हैं और जिनका आपके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा है?"

उन्होंने बताया––"देशी कलाकारों में मुझे सबसे अधिक सूर और तुलसी ने प्रभावित किया है। यद्यपि आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि तुलसी के मानस का पहला-पहला परिचय मुझे ग्राउस साहब के अंग्रेजी अनुवाद से हुआ था। धार्मिक दृष्टि से मै 'मानस' को पढ़ता था पर अर्थ बहुत कम समझता था। जब अंग्रेजी से मुझे अर्थो में साहित्यिकता दिखाई दी तो ज्वाला प्रसाद की टीका से मैंने रामायण को पढ़ा और स्वयं भी उसमें कुछ नई-नई बातें खोजकर निकालीं। सूर का परिचय तो, जैसा मैंने कहा, माता जी द्वारा गाये पदों से ही हो चुका था। उनमें से कुछ का अर्थ तो अब साहित्य-शास्त्र पढ़ने और प्रोढ़ता प्राप्त करने पर अवगत हुआ है। गद्य का प्रारम्भिक परिचय मुझे नियाज (मुन्शी सदासुखलाल) के 'सुख सागर' से हुआ। उन दिनों 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का बहुत प्रचलन था, किन्तु वे मुझे इतना ही आकर्षित कर सकीं कि उसके ५०-१०० पृष्ठ पढ़कर उसकी शैली से परिचित हो जाऊँ। उपन्यासों में मुझे बंगला उपन्यास पढ़ने का शौक रहा। बंकिम बाबू और रमेश बाबू की ग्रंथावलियाँ मैंने बड़े चाव से पढ़ीं। अंग्रेजी उपन्यासकारों में डिकिंस ने मुझे बहुत प्रभावित किया। वैसे मैंने 'पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस', 'वेनिटी फेयर', 'रोबिन्सन क्रूसो' और 'गुलीवर्स ट्रेवल' भी बड़ी रुचि के साथ पढ़े हैं। लेकिन ये सब मनोरंजन की वस्तुएँ रहीं। चरित्र-निर्माण के लिए सेम्युअल की 'सेल्फ हेल्प' और ब्लेकी की 'सेल्फ कल्चर' ने बहुत सहायता की। विचारोत्तेजना की दृष्टि से हक्सले, हर्बर्ट स्पेन्सर और डारविन ने मुझे बहुत प्रभावित किया, पर दर्शन के गम्भीर अध्ययन से वह प्रभाव जाता रहा। इनसे इतना लाभ अवश्य हुआ कि वैज्ञानिक संस्कार अवश्य बन गया, जो मुझमें अब तक है। कला की दृष्टि से स्टीवेन्सन के निबन्धों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। हिन्दी के लेखकों में मुंशी प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल और प्रसादजी मुझे प्रिय रहे। वैसे समय बिताने के लिए बहुत-सी चीजें पढ़ीं और 'रामचन्द्रिका' आदि ग्रंथों का अध्ययन किया, किन्तु जो प्रभाव 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' का मेरे ऊपर पड़ा वह हिन्दी के और किसी

कविता ग्रंथ का नहीं। 'नव रस' लिखते समय मैं शृंगारिक उक्तियों से प्रभावित अवश्य हुआ, पर वह प्रभाव तात्कालिक ही (चाट खाने का-सा) रहा।"

आलोचना बाबूजी का प्रधान क्षेत्र है। इसलिए मैंने उपर्युक्त प्रश्न के पूरक' प्रश्न के रूप में उनसे पूछा--"आलोचकों में आप किसको पसन्द करते हैं?"

बाबूजी ने कहा--"सबसे अधिक मैंने शुक्लजी को पढ़ा है और उन्हीं का लोहा मानता हूँ। बात यह है कि मैं उन्हीं आलोचकों को पसन्द करता हूँ जो अपनी कृति को कलात्मक रूप दे देते हैं। शुक्लजी ऐसे ही आलोचक है, इसीलिए मैं उनकी ओर अधिक आकर्षित हुआ हूँ। उनमें गम्भीर अध्ययन के साथ अपने मत को दृढ़तापूर्वक प्रकट करने की कला थी। उस दृढ़ता के साथ सहसा उनसे मतभेद रखने वाले को अपना मत प्रकट करने का साहस नहीं होता। उनकी सूर और तुलसी की आलोचनाएँ एक विशेष साहित्यिक उमंग को लेकर चलती थीं और बीच-बीच में हास्य और व्यंग से उनमें सजीवता भी आ जाती थी।"

"अन्य आलोचकों के विषय में भी कुछ कह सकें तो बड़ी कृपा हो।"

बाबूजी ने इस पर कहा--"मैंने अपनी पसन्द बतला दी है और उसकी एक कसौटी भी दे दी है। वर्तमान आलोचना से मैं असंतुष्ट नही हूँ। सभी आलोचकों में अपने-अपने गुण और विशेषताएँ है। उनके साथ कुछ न्यूनताएँ भी हैं। मै किसी आलोचक के बारे में दवाई की शीशी की-सी चिप्पी नहीं लगाना चाहता कि अमुक मनोवैज्ञानिक आलोचना करता है तो अमुक रसवादी है और मूल्यवादी। विशेष झुकाव विशेष आलोचकों में होते हैं लेकिन कोई भी केवल एक प्रवृत्ति को लेकर नहीं चलता। इसलिए उनके साथ तब तक न्याय नहीं हो सकता जब तक कि पूरी-पूरी बात न कही जाय। पूरी बात कहने के लिए पूरा अध्ययन करना चाहिए और मैंने उतना विस्तृत अध्ययन किया नहीं है। इसलिए मैं कुछ अधिक नहीं कह सकता।"

मैंने कहा--"अच्छी बात है। यदि आप अन्य आलोचकों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते तो अपने आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में ही कुछ बताइये।"

बाबूजी हँसे और बोले--"अपनी आलोचना के सम्बन्ध में आपसे कुछ कहते भी संकोच होता है, पर फिर भी मैं पिछले प्रश्न की भाँति इस प्रश्न

को टालूँगा नहीं। मेरा दृष्टिकोण सर्वत्र और आलोचना में समन्वयवादी है। काव्य, कला और साहित्यांगों के विवेचन में मैंने इसी पद्धति को अपनाया है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में परिभाषाएँ देने में मैंने देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषाएँ दी हैं। ऐसा करते समय साहित्य के जाने-माने आलोचकों से संयत विरोध भी मेरी आलोचना में प्रकट हो गया है। जैसे साधारणीकरण और रहस्यवाद के विवेचन में आचार्य शुक्ल का विरोध। लेकिन मैं अपनी आलोचना में कटुता आने नहीं देता। यह तो सैद्धान्तिक आलोचना की बात है। व्यावहारिक आलोचना में लेखक के भाव और कलापक्ष के साथ उसके मानसिक और सामाजिक प्रभावों की भी आलोचना रहती है। व्यक्ति की मानसिक दशा के विश्लेषण को महत्व देते हुए भी मैं फ्रायडवादियों के सिद्धान्तों का सहारा नहीं लेता। मैं साधारण मनोविज्ञान तक ही अपने को सीमित रखता हूँ, जिसमें जातीय तथा परिस्थितिगत मनोविज्ञान का समावेश होता है। कवियों की आलोचना में कवि के उद्देश्य की खोज करता हूँ और उसके साथ ही उसके कथन और सूक्तियों के औचित्य तथा भाव-सुकुमारता, अलंकार, लक्षण, व्यंजना आदि की कला देखता जाता हूँ। पाठक को रसास्वाद कराना ही मेरा ध्येय होता है। गद्य-लेखकों में भी यही बात है। उनके हृदय की कुञ्जी की ही मैं पहले खोज करता हूँ। मेरी अच्छी आलोचनाओं में लेखक का पूरा-पूरा तथ्य आ जाता है। मैं हास्य-व्यंग का प्रयोग खूब करता हूँ। अपनी व्यावहारिक आलोचना को मौलिक कृति की भाँति सार-सँभालकर एक कला-कृति बनाना मेरा लक्ष्य होता है। 'साहित्य-संदेश' के सम्पादक के नाते मुझे कभी-कभी बहुत-सी आलोचनाएँ ऐसी भी लिखनी पड़ती हैं, जिनमें मेरा हृदय कम होता है। फिर भी अपनी आलोचनाओं में मैं 'स्वान्तः सुखाय' को ही सिद्धान्त मानता हूँ चाहे 'साहित्य-संदेश' के लिए लिखूं या किसी दूसरी पुस्तक के लिए।"

"आपने छायावाद-रहस्यवाद के सम्बन्ध में शुक्लजी से अपने मतभेद की बात कही है। इन वादों के सम्बन्ध में और साथ ही इनके विरोधी प्रगतिवाद के संबंध में अपना मत दें तो बड़ी कृपा हो।"

"सन् १९३२ में छतरपुर से लौटने पर यहाँ मैंने छायावाद की चर्चा सुनी

और उसकी ओर आकर्षित हुआ। छायावाद के ऊपर पुरानी चाल के साहित्यिकों का प्रायः प्रहार हुआ करता था। मेरी गुण-ग्राहिका-वृत्ति ने उसको सहन न किया। मैंने कुछ छायावादियों का पक्ष समर्थन किया। उनकी कला से और प्रकृति प्रेम से मैं प्रभावित हुआ। उनकी राष्ट्रीयता भी एक विशेष कोमलता लिये हुए थी। शृंगारिकता में नारी-उपासना थी, किन्तु उसके साथ उसका पूरा मान भी था। वह मुझे केवल 'भोग्या' नहीं लगी वरन् ऐसी 'आराध्या' लगी जिसके आगे कोई भी आत्म-समर्पण कर सके। उसके आत्म-समर्पण की सात्विकता ने उस शृंगारिकता को मेरी दृष्टि में क्षम्य बना दिया। रहस्यवाद की ओर मैं इसलिए आकर्षित हुआ कि मैं समझता था कि उस समय के बढ़ते हुए भौतिकवाद से देश को हानि पहुँचने की सम्भावना है। रहस्यवाद में थोड़ा-बहुत ढोंग होते हुए भी मैंने यह देखा कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं, जिनमें कि वह सांसारिकता से अपने को कुछ ऊपर उठा हुआ पाता है। उन्हीं क्षणों की अनुभूति को कवि लोग कल्पना द्वारा बढ़ा लेते हैं। उसमें अतिरंजना होते हुए भी उनका आध्यात्मिकता की ओर झुकाव रहता है, इसीलिए शुक्लजी के आदेश मुझे इसके विरुद्ध न कर सके। मैंने इसीलिए शुक्लजी का विरोध भी किया।

"आचार्य शुक्ल जी का रहस्यवाद और छायावाद पर यह आक्षेप है कि ये दोनों जीवन से दूर हटे हुए हैं। मैं समझता हूँ कि यहीं प्रगतिवाद की भूमिका है। प्रगतिवाद की सब से बड़ी देन साहित्य को जीवन की ओर झुकाना है। इसीलिए मैंने कुछ सीमाओं के साथ प्रगतिवाद का पक्ष लिया। प्रगतिवाद में जो मुझे बुराई लगी, वह कुछ तो मेरी कोमल प्रकृति के कारण और कुछ दार्शनिक प्रकृति के कारण। मेरी प्रकृति समझौते के पक्ष में अधिक है। मै प्रगतिवाद के वर्ग-संघर्ष और उग्रता के विरुद्ध रहा। इसके अतिरिक्त मैं जीवन को केवल किसान-मजदूरों में ही संकुचित नहीं देखता। मैं प्रेमचंद की भाँति बुरे-से-बुरे व्यक्ति में भी भलाई की चिनगारी देखने के पक्ष में रहता हूँ। मेरा सिद्धान्त है कि पूँजीपतियों की हृदय-हीनता का अवश्य विरोध किया जाय, किन्तु उनको मिटाकर नहीं वरन् उनको सन्मार्ग पर लगाकर। इस सम्बन्ध में मैं कुछ-कुछ गांधीवाद से प्रभावित हूँ। मैं जीवन के भौतिक मूल्यों के साथ आध्यात्मिक और

कलात्मक मूल्यों में भी विश्वास रखता हूँ। रोटी मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक वस्तु है, उसके बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता ,किन्तु केवल रोटी पर ही रहने से उसका जीवन बुद्धि और कला-रहित पशु का-सा हो जायगा। यद्यपि प्रगतिवाद भी कला और संस्कृति में विश्वास रखता है तथापि वह कला को भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद स्थान देता है। मै कला और भौतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ चलने के पक्ष में हूं। महादेवी जी के शब्दों में मै चक्की चलते रहना आवश्यक मानता हूॅ, किन्तु उसके साथ राग की ऐसी ध्वनि सुनना चाहता हूॅ जो चक्की के परिश्रम में एक कोमलता देती रहे और जीवन को भार बनने से बचावे।"

बातचीत बडी देर मे गम्भीर हो रही थी। यही सोचकर जब मैंने बाबूजी से एक प्रश्न उनके लिखने के ढंग और रहन-सहन के सम्बन्ध में किया तो उन्होंने इस प्रश्न से सन्तोष-सा प्रकट करते हुए कहा—"लिखना ही मेरा मुख्य व्यवसाय है। मैं इस कार्य में पर्याप्त सांत्वना से काम लेता हूँ।" यद्यपि मेरे जीवन में व्यवस्था नहीं है और यदि कोई मेरी लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ देखे तो उनकी व्यवस्था से मेरे सम्बन्ध में उनकी यही धारणा होगी कि यह लेखक बड़ी असावधानी से लिखता है। तथापि वास्तव में बात यह है कि मेरी असावधानी के कारण ही मेरी पाण्डुलिपियाँ बड़ी कटी-कटाई और कही-कहीं पढ़ने में दुरूह हो जाती हैं। मैं किसी लेख के आरम्भ करने के पूर्व दो-चार पन्ने अवश्य खराब कर देता हूँ। मेरा विश्वास है कि जब तक अच्छा, चटपटा आरम्भ न हो तब तक लेख को शुरू करना ही नहीं चाहिये। लिखने के पूर्व कभी-कभी मैं प्रारम्भिक एक-दो अनुच्छेदों का मानसिक प्रारूप तैयार कर लेता हूँ। जब तक मैं किसी विषय से प्रभावित नहीं होता तब तक मैं उस विषय पर लेखनी नही उठाता। यद्यपि लेखनी मेरी आजीविका का साधन है तथापि केवल धन के लिए मैंने कभी नही लिखा। बच्चों के लिए रीडरें लिखी तो भी उनमें एक अध्यापक-सा उत्साह रहा। मैं विद्यार्थियों का हित ध्यान में रखकर लिखता हूँ कि और उसमें मुझे प्रसन्नता होती है। इसीलिए मेरी रचनाएँ 'अर्थकृते' होते हुए भी 'स्वान्तः सुखाय' का रूप धारण कर लेती हैं। मैं हर बात का तथ्य जानने का प्रयत्न करता हूँ और उसके बाद उस तथ्य को अपने शब्दों में संगति आदि के तार्किक

नियमों के साथ अभिव्यक्ति देता हूँ। मैं गहरा जाने का प्रयत्न करता हूँ, किन्तु उसी हद तक कि मेरे पाठक भूलभुलैयाँ में पड़ने से बचे रहें। लेखक का उद्देश्य मैं यही समझता हूँ कि पाठक को अपने ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ दे सकूँ, और मैं उसी रचना को सफल समझता हूँ जिसमें कि पाठक ज्ञानोपार्जन में मेरे साथ कदम मिलाकर बढ सकें। मैं अधिकतर रात्रि के अन्तिम प्रहरों में अर्थात् ३ बजे के बाद लिखना पसन्द करता हूँ। रात्रि के प्रथम प्रहरों में मैंने बहुत कम लिखा है। उस वक्त घर का वातावरण मुझे पर्याप्त रूप से शान्त मिलता है और जीवन की चिन्ताओं में भी सोकर मुक्त हो जाता हूँ। अधिकांश लेखन-कार्य चारपाई पर ही होता है किन्तु मेज-कुर्सी से मुझे कोई द्वेष नही है। जब मैं किसी विषय से प्रभावित हो जाता हूँ और मेरे हृदय में लेखन-रस उत्पन्न हो जाता है, तब घर का शोरगुल, बच्चों का ऊधम और जीवन की समस्याएँ उसमें बाधा नहीं डालती। मेरा उद्देश्य अच्छी पाण्डुलिपि बनाना नहीं होता वरन् विषय का अच्छा प्रतिपादन करना होता है। मुझे इस बात की परवाह नहीं कि बादामी कागज पर लिखूँ या सफेद पर, लाइनदार पर लिखूँ या बिना लाइनदार पर, ठीक कटे हुए कागज पर लिखूँ या ठीक न कटे हुए पर। कागज के साइज की भी मै चिन्ता नहीं करता, किन्तु मै फुलस्केप साइज पर लिखना अधिक पसन्द करता हूँ। यथेष्ट कागज के अभाव में कभी मेरा लिखना रुका नही। फाउण्टेन-पेन से ही प्रायः मैं लिखता हूँ, किन्तु यह भी मेरे लिए अनिवार्य साधन नही। कभी-कभी तो मैंने लकड़ी में निब बाँध कर भी लिखा है और कभी बच्चों के सरकण्डे की कलम से भी। लिखते समय मुझे किसी भौतिक उत्तेजना की आवश्यकता नहीं रही। अधिक से अधिक मुझे सौंफ या सुपारी की आवश्यकता रहती है और मैं मध्ये-मध्ये आत्म-नियम के सिद्धान्त को मानता हूँ। पुस्तकों की तो बात अलग है किन्तु लेखों को यदि बहुत बड़े न हुए तो एक ही बैठक में समाप्त कर देता हूँ। इसका कारण यह है कि जितना अध्ययन आवश्यक होता है उतना पहले ही कर लेता हूँ। अध्ययन और लेखन साथ-साथ नहीं चलता। किताबें अवश्य पास रहती हैं केवल उद्धरण देने के लिए। यदि यों बीच में कार्यवश लेख को अधूरा छोड़कर कहीं उठ जाऊँ तो मेरी विचार-शृंखला टूटती नहीं। मैं कागज पर नोट कम करता हूँ। मेरे मानस-पटल के लेख पर्याप्त काल

तक कम-से-कम उतने काल जितने में कि लेख समाप्त हो––अपेक्षाकृत स्थायी रहते हैं। मेरे लिखने के काल में प्रायः मेरा नाई कभी-कभी अवश्य बाधक होता है। उसको भी समय का अभाव लगता है और मुझे भी। इस संघर्ष में उसी की जीत होती है, क्योंकि मैं स्वभावतः दूसरों का अधिक खयाल रखता हूँ। लिखने के कारण मेरे नित्य-कर्म बड़े व्यवस्थित रहते हैं। इसका मुझे खेद रहता है। मैं चाहता अवश्य हूँ कि घूमने जाऊँ, प्रातःकाल ही स्नान कर लिया करूँ; लेकिन लेखन का मोह इन पुण्य कार्यों में बाधक होता है।

"यद्यपि मैं सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त में विश्वास रखता हूँ तथापि व्यवहार में उच्च विचार के साथ मैं उतना सरल नहीं हूँ जितना कि ऊपर से दिखाई पड़ता हूँ। घर में चाहे मैं गांधी जी का अनुकरण कर लूँ किन्तु बाहर मैं समाज के अनुकूल वेशभूषा में ही जाता हूँ। खाली कुर्ते-धोती में बाहर बहुत कम जाता हूँ। कोट को मैं रखता अवश्य हूँ किन्तु उसको कन्धे पर ही बौद्ध भिक्षुओं के चीवर की तरह स्थान देता हूँ। धूप पड़ने पर छाते का काम देता है। छाते का आडम्बर मैं अपने साथ रखना पसन्द नहीं करता––विशेषकर इसलिए कि मैं भुलक्कड़ अधिक हूँ। किसी के घर जाते ही वह कोट अपने उचित स्थान पर आ जाता है। पायजामा मैं बहुत कम पहनता हूँ।राज्य की नौकरी में भी केवल उन्हीं अवसरों पर पहनता था, जिन पर उनका पहनना आवश्यक हो जाता था। लेकिन मैं अपनी पोशाक का यथासम्भव ध्यान रखता हूँ। फिर भी मेरे मित्र मुझको इस सम्बन्ध में लापरवाह ही समझते हैं और वास्तव में उनकी धारणा कुछ अंश तक ठीक ही है, क्योंकि कपड़े की सार-सँभाल में अपना समय व्यर्थ नष्ट करना मुझे पसन्द नहीं। मैं नोटिस मिलने पर तीन मिनट में ही बाहर जाने के लिए तैयार हो जाता हूँ। यदि दुर्व्यवस्था के कारण मेरे जूतों, टोपी या छड़ी के मिलने में देर हो जाय तो दूसरी बात है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आहार की सरलता मुझे बहुत से रोगों से बचा सकती है तथापि जिह्वा का स्वाद स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त कर लेता है। हाँ, रोगग्रस्त होने पर अवश्य जिह्वा का संयम बड़ी कड़ाई से करता हूँ। खाने-पीने में मध्यम वर्ग का अनुयायी हूँ। मेरा सिद्धान्त है कि उचित और मर्यादित रूप में खाई जाने पर कोई भी चीज हानिकारक नहीं होती। . . . . .

घर के सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण यह है कि बड़े-से-बड़े घर में यदि ऐसी खिड़कियाँ न हों, जिनसे आकाश दिखाई दे सके और प्राकृतिक वायु का संचार हो सके, तो उस घर में मुझे ऊब उत्पन्न होने लगती है। सजावट का सामान यदि स्वच्छ न हो तो तब भी वह मेरे लिए अरुचिकर हो जाता है। अच्छे सजे हुए कमरे मुझे बहुत पसन्द हैं और उनको देखकर चित्त प्रसन्न होता है। यद्यपि मैं अपने बच्चों द्वारा उत्पन्न घर की व्यवस्था को स्वयं बिगाड़ता ही रहता हूँ तथापि मेरी सौन्दर्य-प्रियता असुन्दरता को बर्दाश्त नहीं कर सकती। मेरी पुस्तकें रोज आलमारी में लगाई जाती हैंऔर रोज ही वे आवश्यकतावश अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। जाड़े में तो मैं बिस्तर का व्यवहार करता हूँ, किन्तु गर्मियों में मुझे बाँस की पट्टियों की खरेरी खाट अधिक प्रिय लगती है; और मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि भाग्यवश यदि राष्ट्रपति के भवन में मुझे रहने का अवसर मिले तो वहाँ भी वैसी चारपाई माँगकर सोऊँगा।''

निस्संकोच भाव से बाबूजी ने अपने घरेलू जीवन का जो परिचय दिया उससे उनकी सादगी, सरलता और उच्चता प्रकट होती है। मैं उनकी महानता के प्रति मन-ही-मन श्रद्धा से अभिभूत हो गया। फिर गम्भीरता से यह प्रश्न किया —"क्या इतनी लम्बी साहित्य-साधना में कभी आपका जी भी ऊबा है ? यदि हाँ, तो उसके क्या कारण रहे हैं ?"

बाबूजी ने कहा—"साहित्य-साधना से मेरा जी कभी नहीं ऊबा, क्योंकि मैं अर्थ को साहित्य-सेवा का मूल लक्ष्य नहीं मानता। मुझे साहित्य-सेवा से आवश्यकता के अनुकूल धन मिलता रहा है और यश भी, उतना जितने का मैं अधिकारी हूँ। मैं अपनी कमियों को जानता हूँ। इससे अधिक यश की अपेक्षा नहीं करता। कभी-कभी प्रकाशकों की टाल-मटोल पर अवश्य झुँझलाहट आती है, लेकिन भले प्रकाशक मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और बुरे प्रकाशकों से भी मिलता रहता है। साहित्यिक होने के कारण कुछ दण्ड भी भोगने पड़ते हैं—सभा-सोसाइटियों में व्यर्थ समय व्यतीत करना पड़ता है। मैं हाथ जोड़कर कह भी देता हूँ कि भाई हिन्दी का उपकार मैं प्रचार द्वारा नहीं कर सकता, ग्रंथ रचना द्वारा ही कर सकता हूँ। बहुत-सी जगह मुझे केवल इसलिए जाना पड़ता है कि लोग यह न कहें कि हिन्दी और साहित्य से इनकी रुचि नहीं

है। मैं कवि सम्मेलनों में एक सीमा तक ही आनन्द ले सकता हूँ। जब 'कवि-गण' अपनी पुरानी ही कविता पढ़ते हैं तब ऊब पैदा होती है या कोई कवि अपनी शालीनता खो बैठता है तब मैं उसको सहन नहीं कर सकता। संयम के साथ समय की पूर्ति के लिए बैठा रहता हूँ।"

यहीं मैंने उनसे पूछा—"आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति कौन-सी है जिसे लिखकर आपको संतोष हुआ है?"

बाबूजी ने बताया—"मुझे तर्क-शास्त्र' पर भी गर्व है किन्तु उसको दुहरा न सकने के कारण वह गर्व कम हो जाता है। यही हाल 'नवरस' का है। 'नव-रस' का स्थान 'सिद्धान्त और अध्ययन' ने ले लिया है, जिससे मुझे पूर्ण संतोष है।"

"आपने पहले कहा था कि आपका मुख्य व्यवसाय साहित्य-सेवा है। तो क्या साहित्योपजीवी होकर जिया भी जा सकता है?"

"इस सम्बन्ध में मुझे एक अंग्रेजी लेखक की यह उक्ति याद आती है कि 'साहित्य बैसाखी का काम नहीं दे सकता, छड़ी का काम ही दे सकता है!' यह साधारण वाक्य है। लेकिन कुछ लोगों के लिए यह बैसाखी का काम करता है। मेरी मुख्य आजीविका साहित्य से है। किन्तु इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि मैं साहित्य के ऊँचे स्तर से विद्यार्थियों के स्तर तक उतरना जानता हूँ और दूसरे कुछ प्रकाशक भी मेरे नाम का उपयोग करना जानते हैं। मैंने प्रायः ऐसी ही पुस्तकें लिखी हैं, जिनसे विद्यार्थियों का हित हो। जो लोग स्कूलों और कॉलेजों के लिए पुस्तकें नहीं लिख सकते वे चाहे चोटी के लेखक ही क्यों न हों, साहित्य सेवा से अपनी आजीविका नहीं चला सकते।"

बाबूजी का पर्याप्त समय मैं ले चुका था, इसलिए केवल मैंने उनसे एक प्रश्न और पूछा। वह प्रश्न था—

"हमारे साहित्य के अभावों के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?"

बाबूजी ने गर्व-सा अनुभव करते हुए यह कहा—"मुझे साहित्य की गति-विधि से संतोष होते हुए भी उसमें बहुत-सी कमियाँ दिखाई देती हैं। पर्याप्त और उचित वैज्ञानिक साहित्य के बनने में तो अभी मेरी समझ में ५० वर्ष की देर है, किन्तु विचारोत्तेजक साहित्य के निर्माण में हमारे लेखकों का ही आलस्य है।

हिन्दी में क्षमता की कमी नहीं। अर्थ-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र और प्राणी-शास्त्र के आधार पर जीवन की समस्याओं को हल करने वाला शास्त्र सहज में लिखा जा सकता है। अब कालेजों में हिन्दी में उत्तर देने की छूट हो गई है। इससे अब आशा हुई है कि विभिन्न विषयों के साहित्य का निर्माण जल्दी हो सकेगा। जिस चीज की माँग होती है उसके निर्माण में कोई कठिनाई नहीं होती। भाषा-विज्ञान और साहित्यालोचन जैसे कठिन विषयों को जब साहित्य में स्थान मिला तो उच्च-कोटि के ग्रन्थ भी सामने आने लगे। हमारी कविता में अब भी बहुत कुछ पीटी लकीर पर ही कविता होती है। कवियों की न दृष्टि खुली है, न हृदय। देश को स्वतंत्रता अवश्य मिली है। किन्तु दुर्भाग्यवश कुछ कठिनाइयों और हमारी ही कमजोरियों के कारण उस स्वतंत्रता के जो स्वप्न देखते थे वे पूरे न हो सके, फिर भी बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिन पर प्रत्येक सहृदय गर्व कर सकता है। रोटी और कपड़े को हमने अधिक महत्व दिया है। स्वतंत्रता से जो हमारा जातीय गौरव बढ़ा है और हमारा हीनता भाव दूर हुआ है उसकी ओर न हमारे कवियों का ध्यान गया है और न उन्होंने एक नई उल्लासमय चेतना और नई संस्कृति के निर्माण का प्रयत्न किया है। वे दोष-दर्शन की ओर अधिक गये हैं, किन्तु हमारे काव्य के आदर्शों के अनुकूल 'कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे' के आधार पर सत्परामर्श देने का प्रयत्न उन्होंने नही किया। न उन्होंने प्रेम के आधार पर सामाजिक साम्य-स्थापना की चेष्टा की है। मैं समझता हूँ कि कवि लोग इन बातों की ओर ध्यान देते तो वे राष्ट्र निर्माण में हमारे नेताओं को बराबर योग दे सकते थे।"

—'मैं इनसे मिला (१)' से

सावधानी की आवश्यकता

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

साहित्य में नित नवीन प्रयोग हो रहे हैं। जिस समय हमारा देश स्वाधीन हो रहा है, उस समय इन नवीन प्रयोगों के विषय में कुछ सावधानी बर्तने की आवश्यकता जान पड़ती है। इस समय देश के शिक्षित समझे जाने वाले जन-समुदाय में एक विचित्र प्रकार की संदेह-शीलता और अविश्वास का भाव दिखाई दे रहा है। सैकड़ों वर्ष की गुलामी से कुचला हुआ मनोभाव उत्तरदायित्व का भार देखकर ही बिदक गया है। मलेरिया का बुखार आदमी को कमजोर पाकर बीस वर्ष बाद भी चढ़ दौडता है। हमारे भीतर संघर्षकाल में जितना आत्म-विश्वास था उतना भी नहीं दिखाई देता। शत्रुओं की कूट-बुद्धि पर, प्रतिद्वन्द्वियों की चालबाजियों पर और अपनी मूर्खता पर हमें बहुत ज्यादा विश्वास है और अपनी दृढ़ता पर, अपनी नीति पर और अपने अधिकार पर बहुत कम। इस अवस्था में साहित्य यदि जनता के भीतर आत्मविश्वास और अधिकार चेतना की संजीविनी शक्ति नहीं संचारित करता तो परिणाम बड़े भयंकर होंगे। हमें इस समय कठोर आत्मसंयम, अदम्य इच्छा-शक्ति और दुर्जेय आत्मविश्वास की जरूरत है। हमारे साहित्य में आज ऐसे दृढ़चेता चरित्रों की कमी महसूस हो रही है, जो विपत्तियों की झंझा में पहाड के समान अटल बने रहते हैं, जूझने का अवसर पाने पर सौगुना उत्साहित हो जाते हैं और प्रलोभनों के विशाल व्यूह में भी अपने कर्त्तव्य-पथ से तिलमात्र विचलित नहीं होते। आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे युवकों में मनुष्यता के लिए बलि होने की उमंग पैदा करे, अन्याय से जूझने का उन्माद पैदा करे और अपने अधिकारों के लिए मिट जाने के लिये अकुंठ साहस का संचार करे।

क्या साहित्यिक अपना कर्त्तव्य पालन कर रहे हैं? कहना व्यर्थ है कि हिन्दी के साहित्यिक चुप नहीं बैठे हैं। कागज की कमी और छपाई की दिक्कतों के होने

हुए भी दर्जनों पत्रिकाएँ और पुस्तकें प्रति मास निकल रही हैं। फिर आज यह शंका क्या उचित है कि साहित्यकार कर्त्तव्य-पालन में सावधान है या नहीं ?

हमारे युवा साहित्यकारों में से अधिकांश अपने को 'प्रगतिशील' कहते और समझते हैं। इनकी 'प्रगतिशील' कही जाने वाली रचनाओं में कई श्रेणी की चीजें हैं। यह एक बिल्कुल गलत धारणा है कि सभी प्रगतिवादी रचनाएँ मार्क्सवादी विचार-धारा का समर्थन या प्रचार करती हैं। वस्तुतः कई प्रकार के आधुनिक मनोभावों के प्रचार के उद्देश्य से लिखी गई समस्त रचनाएँ 'प्रगतिशील' कही जाने लगी हैं। आज समय आ गया है कि इन रचनाओं का विश्लेषण करके ठीक-ठीक समझ लिया जाय कि 'प्रगतिशील' वस्तुतः कौन-सी हैं और केवल अध-कचरे आधुनिक विचारों को हवा में से पकड़कर उन पर से अपना कारबार करने वाली रचनाएँ कौन हैं ? बिना किसी झिझक के यहाँ कह दूँ कि मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ, जिनमें संसार को नए सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़-संकल्प न हो। जो रचना केवल हमारी मानसिक चिन्ताओं का विश्लेषण करने का दावा करके हमें जहाँ-का-तहाँ छोड़ देती है, उसमें गति ही नहीं है। उसे प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता।

इस युग के युवक-चित्त को जिस नई विद्या ने सबसे अधिक प्रभावित किया है वह है मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र। निस्सन्देह ये शास्त्र पठनीय हैं। इन्होंने हमारे सामने अपने ही भीतर चलने वाली अनेक अज्ञात धाराओं से हमारा परिचय कराया है; परन्तु यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि "सब साँच मिलै सो साँच है, ना मिलै सो झूठ "। सत्य सार्वदेशिक होता है मनोविश्लेषण-शास्त्र मनुष्य की उद्भावित विचार-निधियों का एक अकिंचन अंश-मात्र है। जीव-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में हमें जो नये तथ्य मालूम हुए हैं उनके साथ इस शास्त्र के अनुसंधानों का सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सका है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि मानस-विश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों के प्रचारित तत्त्ववाद में से कुछ विचार इन दिनों वायुमंडल में व्याप्त हैं। नवीन साहित्यकार उन्हें अनायास पा जाता है; परन्तु उन विचारों को संयमित और नियंत्रित करने वाले प्रतिकूलगामी शास्त्रीय परिणाम उसे इतनी आसानी से नहीं मिलते। इसका परिणाम यह हुआ कि हमरा नवीन साहित्यकार इन विचारों

के मायाजाल को आसानी से काट नहीं पाता। वह कुछ इस प्रकार सोचता है : अवचेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विचारों और कार्यों को रूप दे रही है। हम जो कुछ सोच और समझ रहे हैं वस्तुतः वैसा ही सोचने या समझने का हेतु हमारे अनजान में हमारे ही अवचेतन चित्त में वर्तमान है। और यह जो हम सोच रहे हैं, समझ रहे हैं और सोच-समझकर कर रहे हैं इन बातों का 'अभिमान' करने वाला हमारा चेतन चित्त कितना नगण्य है। अदृश्य में वर्त्तमान हमारी अवदमित वासनाओं और प्रसुप्त कामनाओं के महासमुद्र में यह दृश्य चेतन चित्त बोतल के कार्क के समान उतरा रहा है। अदृश्य महासमुद्र की तरंगें उसे अभिभूत कर जाती हैं। हम जिसे तर्कसंगत विचार समझ रहे हैं वह वस्ततुः संगति लगाने का ही प्रकारान्तर है। मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नाम की कोई चीज नहीं है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति पुराने दकिया-नूसी विचारकों की अर्द्ध-विकसित बुद्धि की अधकचरी कल्पना-मात्र है। कुछ और विश्लेषकों ने आगे बढ़कर कहा है कि जब कोई व्यक्ति जानबूझकर कोई काम करता है, जिसे वह अपनी इच्छा-शक्ति का कार्य समझता है, तो वस्तुतः वह इसलिए कि शिशुकाल से ही वह नाना भाव से अपने को असहाय मानता रहता है और इस प्रकार उसके मन में हीनता की गाँठ पैदा हो जाती है। उसी हीनता की क्षतिपूर्ति के उद्देश्य से वह आगे चलकर बड़े-बड़े काम करता ह। असल में हीनता की भावना जितनी ही तीव्र होती है, भविष्य जीवन में मनुष्य उतना ही कर्मठ होता है! ये हू-ब-हू वही विचार नहीं हैं, जिनका प्रतिपादन फ्रायड, एडलर जैसे आचार्यों ने किया है। ये उन विचारों का अत्यधिक प्रचलित रूप है, जिन्हें आज का नया साहित्यकार आसानी से हवा में से पकड़ लेता है।

इन विचारों का बड़ा घातक असर हमारे साहित्य पर हो रहा है। जिसे देखो वही कुछ मनोविश्लेषण के प्रयोग कर रहा है। कुछ लिबिडो, कुछ प्रसुप्त वासना, कुछ अवदमित कामना किस रूप में चेतन दिमाग में रूप-परिग्रह कर रही है, यह बताने के उद्देश्य से जो साहित्य लिखा जायगा उसमें वह चरित्रगत दृढ़ता आ ही नहीं सकती जो आज के संकट-काल में हमें धीर और कर्मठ बना सके। यदि मनुष्य कुछ पूर्ववर्ती अज्ञात वासनाओं का ही मूर्त्त रूप है, यदि अनजान

में बँधी हुई हीनता की गाँठ ही हमारे चरित्र का निर्माण कर रही है तो फिर दृढ़चित्तता और आत्म-निर्माण का स्थान कहाँ है ?

लेकिन केवल इन्हीं विचारों को लेकर साहित्यिक प्रयोग हो रहे हैं, ऐसा कहना अन्याय होगा। एक प्रकार के हमारे युवक साहित्यकार ऐसे भी हैं जो बड़ी सावधानी से ऐसे चरित्रों का निर्माण कर रहे हैं, जिनमें दुनिया को अपने आदर्श के अनुरूप ढाल लेने का संकल्प है। मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड-विज्ञान के तत्ववाद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है। मुझे इसी श्रेणी के साहित्य में यह बात सबसे अच्छी लगती है। खेद है कि सभी मार्क्सवादी इस बात में पूरे नहीं उतरते। कभी-कभी एक ही स्थान पर एक तरफ तो वे ऐसे चरित्र का निर्माण करते हैं जो कठिनाइयों से जूझता है और दूसरे ही क्षण मानस-विश्लेषण करके उसे प्रसुप्त वासनाओं का प्रतिफलन मात्र बना देते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस श्रेणी के साहित्यिक अभी भी अपना कर्त्तव्य साफ-साफ नहीं समझ रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में जड़-विज्ञान लेकर आई थी; परन्तु उस युग के साहित्य में संसार को आदर्श रूप में गढ़ने की जैसी उत्कट और शक्तिशाली भावना प्रकट हुई उसकी तुलना किसी युग से नहीं की जा सकती। बीसवीं शताब्दी प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान का युग कहा जाता है। पस्तहिम्मती, पलायन और नियतिदासता को क्या इस युग के साहित्य में बड़ा हो जाना चाहिए था ? युद्धों और राजनैतिक कचकचाहटों ने इस युग के साहित्यकारों को निराशावादी और मनोविश्लेषक बना दिया है। वह देख रहा है कि दुनिया के नख और दन्त चाहे जितने तेज हो गये हों उसका मन परिवर्तित नहीं हुआ है। मनुष्य सब मिलाकर आज भी पशु ही बना हुआ है। डारविन ने उन्नीसवीं शताब्दी में कहा था कि मनुष्य वस्तुतः पशु का ही विकसित रूप है। वर्तमान युग के मनोवैज्ञानिकों ने आज भुजा उठाकर घोषणा की है कि मनुष्य पशु का विकसित रूप केवल शरीर में है, मन की ओर से वह आज भी प्रायः पशु ही है। वही आदिम मनोवृत्तियाँ जो चूहे में हैं, बकरी में हैं, बनमानुष में हैं, मनुष्य में भी हैं। उन मनो-

बृत्तियों में एकदम परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल रूप बदल गया है। परिस्थिति के कारण जिस प्रकार ऊँट की गर्दन एक प्रकार की बन गई है, हाथी की सूंड दूसरी प्रकार की हो गई है उसी प्रकार बदलती हुई परिस्थितियों ने मानव-चित्त को कुछ नया रूप दिया है, नहीं तो है वह वही पुरानी चीज।

प्रश्न यह है कि आज का साहित्यकार क्या इसी प्रकार के विचारों को चुप-चाप स्वीकार कर नया-नया प्रयोग करता जायगा? समूची जाति का भाग्य अधर में लटका हुआ है, अविश्वास और संशयालुता ने हमारे विचारशील चित्त के लोगों में भय और संदेह को भर दिया है, भीतर और बाहर की विकट समस्याओं के सम्मुखीन होने में देश के समझदार लोग दुविधा का अनुभव कर रहे हैं। हमारे सामने देश को स्वाधीन बनाये रखने की समस्या ही मुख्य नहीं है। स्वाधीनता भी एक साधन है। सारे संसार को अविश्वास और पारस्परिक घृणा और विद्वेष के दलदल से उबारने का हमें अवसर मिलने जा रहा है। हम क्या आज निराश और हतोत्साह होकर यह कार्य कर सकते हैं? मनोविज्ञान, प्राणिज्ञान और पदार्थ-विज्ञान का अध्ययन हम अवश्य करें; परन्तु निश्चित समझें कि ये शास्त्र मनुष्य की अद्भुत बुद्धि के कणमात्र हैं। ये ही सब कुछ नहीं हैं। मनुष्य इनसे बड़ा है। ये शास्त्र केवल सामने पड़ी हुई विशाल ज्ञानराशि की ओर संकेत कर रहे हैं। भारतवर्ष के साहित्यकारों को आज सुवर्ण-संयोग प्राप्त है। अगर इस अवसर पर हम चूक गए तो सम्भवतः दुनिया एक नए दलदल में फँस जायगी। यह मत समझिये की भारतवर्ष अब एक उपेक्षित अवमानित देश बना रहेगा। संसार को नई ज्योति देने की जिम्मेदारी आज हमारे तरुण साहित्यकारों के कन्धों पर आ पड़ी है। आज हमें स्मरणीय चरित्रों और अविस्मरणीय आदर्शों का निर्माण करना है। हमारे महान् देश का भविष्य हमारे हाथों में है।

निस्संदेह मनुष्य में पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियाँ जीवित हैं। उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। थोड़ी-सी भी उत्तेजना पाकर वे झनझना उठती हैं। साहित्यकार को इनकी उत्तेजना जगाने में विशेष परिश्रम नहीं करना पडता। अगर इन आदिम मनोवृत्तियों को ही उपजीव्य बनाकर मनुष्य अपना कारबार आरम्भ कर दे तो उसे बहुत आयास नही करना पडेगा; परन्तु संयम और निष्ठा, धैर्य और दृढ़चित्तता साधना से प्राप्त होते हैं। उनके लिए

श्रम की जरूरत होती है। साहित्यकार से मेरा निवेदन है कि इन श्रमसाध्य गुणों को पाने के लिए समूची मनुष्य-जाति को उद्बुद्ध करे। इस युग संधिकाल में साहित्यकार को अविचलित चित्त से उन गुणों की महिमा समाज में प्रतिष्ठित करनी है जिन्हें मनुष्य ने वर्षों की साधना और तपस्या से पाया है। जिस स्वाधीनता के लिये हम दीर्घकाल से तड़प रहे थे, वह आ गई है। साहित्यकार ने इसके आवाहन में पूरी शक्ति लगा दी थी। आज उसे अपने को महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। कराची-सम्मेलन में कही हुई अपनी बात को मैं फिर दुहराता हूँ, मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती। इस महान् उद्देश्य को यदि हिन्दी पूर्ति कर सके तभी वह उस महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध होगी जो इतिहास विधाता की ओर से उसे मिला है। मेरे लिये हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य कोई देवप्रतिमा नहीं है, जिसका नाम जपकर और आरती उतारकर हम संतुष्ट हो जायँगे। हिन्दी भारतवर्ष के हृदय-देश में स्थित करोड़ों नर-नारियों के हृदय और मस्तिष्क को खूराक देनेवाली भाषा है। यदि यह काम वह नहीं कर सकती तो श्रद्धा और भक्ति का विषय भी नहीं बनी रह सकती। हिन्दी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूँ तो मेरा मतलब यही होता है। भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो भी हो और जैसी भी हो; पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिन्दी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटानेवाली भाषा, करोड़ों की आशा-आकांक्षा, अनुराग, विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति समवेदनाशील बनाना, करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त करना। केवल शिक्षित और पंडित बना देने से ही काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की जो दूसरों के शोषण में, अपने स्वार्थ-साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो! इसीलिए आज जब हमारे सामने गम्भीर साहित्य लिखने का बहाना आ उपस्थित हुआ है, मैं अपने सहकर्मियों से विनयपूर्वक अनुरोध कर रहा हूँ कि जो कुछ भी लिखो। उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर

लिखो। संसार के अन्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है उसकी प्रतिक्रिया और अनुसरण नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में भी अटकल का सहारा लिया है। उसका फल अच्छा नहीं हुआ है। हमें सौभाग्य-वश नए सिरे से सब कुछ करना है। इसीलिए हमारे पाठ्यग्रन्थों तथा रसात्मक साहित्य की रचना भी किसी खण्ड सत्य के लिए नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरे जाति से घृणा न करके प्रेम करे; एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्क वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है वह शीघ्र ही पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभवश, मोहवश और क्रोधवश जो कर्त्तव्य निश्चित किया जायगा वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है। वे वृत्तियाँ दबी हैं; किन्तु फिर भी वर्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और मनुष्यमात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बननेवाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा।

एक आदरणीय साहित्यिक ने मुझे यह अनुमान बताया कि प्रगतिशील समझे जाने वाले नए लेखकों की रचनाओं में पचास फी सदी से अधिक कहानियों का विषय मानसिक विपथगामिता है। अपने आदरणीय साहित्यिक की बात मैंने ज्यों-की-त्यों स्वीकार नहीं कर ली। मैंने एक प्रगतिशील पत्र में प्रकाशित कुछ कहानियों की छानबीन की। मुझे यह घोषणा करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि उसकी अधिकांश प्रकाशित कहानियों से उक्त बात की पुष्टि नहीं होती। परन्तु अपने को 'प्रगतिवादी' कहकर विज्ञापित नहीं करने वाले पत्रों की कहानियों में यह बात बहुत दूर तक ठीक है। शायद ही ऐसा कोई समझदार आदमी हो जो

यह न स्वीकार करता हो कि एक-न-एक प्रकार की मानसिक विपथगामिता हर युग में साहित्य की प्रधान समस्या रही है। परन्तु इन दिनों जो बात चिंत्य हो उठी है वह उसका यौन-भावनामूलक ग्रंथ गृहीत रूप है। कुछ रचनाओं से यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि लेखक सुनी-सुनाई बातों की नींव पर अपना भवन निर्माण कर रहा है; परन्तु मैं यहाँ इस बात को व्यर्थ ही बढ़ाना नहीं चाहता। मेरा वक्तव्य यहाँ सिर्फ इतना ही है कि इन दिनों हमारी प्रधान समस्या व्यक्तिगत यौन-भावनामूलक मानसिक विपथगामिता नहीं है। हमारे देश में कुछ खास रीति-रस्म ऐसे हैं जो मनुष्य को सामाजिक रूप में अस्वस्थ-चेता बनाए हुए हैं। इनमें कुछ नितान्त सामयिक हैं, कुछ दीर्घ-काल की जमी हुई कीट की तरह हमारे मन पर सवार हैं। दोनों का अध्ययन और नियमन होना चाहिए।

हमारे देश में जाति-भेद और छुआछूत की विचित्र प्रथाएँ हैं। इसने देश को नाना स्तरों में बाँट दिया है। केवल जातिगत हीनता और कुलीनता ही इस देश के समूहजात चित्त को विचित्र और जटिल बनाने के लिए काफी थीं; परन्तु इतना ही भर नहीं है। इन जातियों में पारस्परिक ब्याह-शादी नहीं होती और नाना भाँति की ऐतिहासिक और सामाजिक मर्यादाओं के भीतर से विकसित होने के कारण अधिकांश की रीति-नीति, पूजा-उपासना, आचार-विचार, विश्वास नाना भाव से स्वतंत्र होने के कारण समाज की जटिलता और भी बढ़ गई है। हमारे पुराने लेखकों ने इस समस्या पर जितना जमकर विचार किया है उतना नए लेखक नहीं कर रहे हैं। क्रांति कह देने मात्र से नहीं आती। यदि मानसिक गुत्थियों को सुलझाना ही हमारे नए साहित्यकारों को अभीष्ट है तो इस देश के जन-समूह से बड़ा और मनोरंजक प्रयोग-क्षेत्र दूसरा नहीं मिलेगा। क्यों नहीं हमारे साहित्यिक इस ओर झुकते? पुरातत्व और नृतत्त्वशास्त्र के अध्येताओं ने जिन तथ्यों का उद्घाटन किया है, उनके प्रकाश में क्यों नहीं वे अपने देश की मानसिक गाँठों को खोलने का प्रयत्न करते? इस विशाल देश में न तो आदिम मानवीय विश्वासों की ही कमी है, न अत्यन्त आधुनिक जटिलताओं की। साहित्यिक प्रयोग यदि करना ही है तो क्यों नहीं हमारे युवक अपने देश की ओर नजर फिराते? नाना जातियों और उप-जातियों से अध्युषित, सभ्यता की लगभग प्रत्येक सीढ़ी पर अवस्थित और फिर भी सब से विचित्र और सब से जटिल

इस देश की सामाजिक मनोभावना सचमुच साहित्यकार को प्रलुब्ध करने वाली वस्तु है।

अपने देश के तरुण साहित्यकारों से मेरा अनुरोध है कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में ऐसे नवीन अमृत का संचार करे कि वह एक दृढ़चेता व्यक्ति की भाँति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिए उठ खड़ा हो। हमारे युवकों और युवतियों में भविष्य को अपने अनुकूल बना लेने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए। भय कहीं से नहीं है। अपने ऊपर अश्रद्धा ही हमारा सब से बड़ा भय का हेतु है। आत्म-विश्वासी से बढ़कर हमारे पास दूसरा अस्त्र नहीं है और भारतवर्ष यदि आत्म-विश्वासी बनता है तो यह कोई निरा स्वप्न नहीं है। सचमुच ही भारतवर्ष की परम्परा महान् है, इसके निवासियों में शौर्य है, यहाँ की भूमि रत्नप्रसू है, यहाँ का ज्ञान-विज्ञान अतुलनीय है। केवल इस देश को अपने प्रति आस्थावान बनाना है। तरुण साहित्यकार के लिए आज स्वर्ण संयोग प्राप्त है। ऐसे ही स्वर्ण अवसर पर रूस के लेखकों ने ऐसा साहित्य पैदा किया था जो संसार में श्रेष्ठ साहित्य के रूप में अनायास ही स्वीकार कर लिया गया। हमारा देश महान है और हमें महान संयोग मिल गया है। इस समय दुविधा और झिझक की जरूरत नहीं है। अपनी आँखों से अपने वृद्ध जर्जर देश को देखना है और दृढ़ चरित्रता के अमृत से सींच कर इसे महत्तर बनाना है। साहित्यिक प्रयोग करते समय हमें बार-बार यह बात सोच लेनी चाहिए।

मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि हमारे तरुण साहित्यकारों में यह शक्ति है। केवल उन्हें अपने उत्तरदायित्व को समझना है। उन्हें बराबर याद रखना चाहिए कि उनके लिखे प्रत्येक शब्द का मूल्य है। वह शब्द लाख-लाख को प्रभावित करने के उद्देश्य से लिखा गया है। प्रभाव शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी हो सकता है। शुभ प्रभाव का होना ही वांछनीय है।

—'अशोक के फूल' से

कला का सौन्दर्य

बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे

वास्तविक रूप में कला-सृष्टि का विधाता है उसका कलाकार। कला-सृष्टि दो प्रकार की हो सकती है। एक कला-सृष्टि में ईश्वर हमें एक महान् कला-कार के रूप में दिखाई पड़ता है। दूसरी कला-सृष्टि मनुष्य की है और उसमें मनुष्य ही प्रकृति के रूप में दिखाई देता है।

सौन्दर्य दो प्रकार का हो सकता है—एक प्रत्यक्ष सौन्दर्य और दूसरा अप्रत्यक्ष सौन्दर्य। प्रत्यक्ष सौन्दर्य का अनुभव हम आसानी से कर सकते हैं। लेकिन अप्रत्यक्ष सौन्दर्य का अनुभव करने के लिए कलाकार के हृदय की आवश्यकता होती है।

मानवी हृदय-पट पर प्रत्यक्ष सौन्दर्य का प्रभाव सहज रूप में पड़ता है। लेकिन अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को पकड़ने का कार्य कलाकार का होता है। वह कलाकार का होता है। वह कलाकार इसलिए है कि वह अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को पकड़ सकता है।

कलाकृति का बाहरी सौन्दर्य या प्रत्यक्ष सौन्दर्य एक विशिष्ट अर्थ लेकर आता है। प्रत्यक्ष सौन्दर्य में उस वस्तु का आकार, योजना, वस्तुभाव, रूप आदि सौन्दर्य के घटकों का समावेश होता है। इन घटकों की विशिष्ट योजना से उस कलाकृति में विशेष आकर्षण आता है, इसलिए साधारण से साधारण व्यक्ति इस आकर्षण के प्रभाव में आता है और उसके सौन्दर्य का अनुभव करता है। इसलिए इस सौन्द-र्यानुभूति के लिए हमें अधिक कष्ट उठाना नहीं पड़ता। कलाकृति की एकरूपता, नियमबद्धता, सप्रमाणता और अनुरूपता सौन्दर्य के मुख्य घटक हैं।

जब कोई कलाकार किसी कलाकृति के सौन्दर्य का अनुभव करता है तब कला-कृति का बाह्य सौन्दर्य उसे प्रभावित नहीं करता, लेकिन उसका भीतरी सौन्दर्य उसके हृदय पर प्रभाव डालता है और उसे सौन्दर्यानुभूति होती है और साथ ही

एक अलौकिक आनन्द भी। इस अलौकिक अनुभव का कारण उस कलाकृति का भीतरी सौन्दर्य है। यही कला का सौन्दर्य है और इस सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करने का कार्य कलाकार अपनी कलाकृति में करता है। सौन्दर्य के उस प्रत्यक्षी-करण में कला का सौन्दर्य निहित रहता है।

कला के सौन्दर्य में प्रेम और वेदना को बड़े महत्व का स्थान है। इस प्रेम के प्रभाव से जीवन का कोई भी अंग सौन्दर्यमय होता है। कलाकार जीवन के विशिष्ट अंग को लेकर प्रेम की अनुभूति कला के सौन्दर्य में दिखाता है। पाश्चात्य चित्रकार रेफेल ने स्त्री सौन्दर्य को लेकर मातृ-प्रेम को ही अपनी कला का सौन्दर्य बनाया। उसने अपनी कला के सौन्दर्य से मातृ-प्रेम का जो आदर्श रखा है वह अत्यन्त उच्चकोटि का है। सौन्दर्य के इस आदर्श रूप से उसके सौन्दर्य दर्शन में सौन्दर्य का पूर्ण विकास स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मातृ-प्रेम में स्त्री-सौन्दर्य का आदर्श दिखाने में उसकी कला ने पूर्णता पायी थी। इसलिए उस समय और आज भी रेफेल को स्त्री-सौन्दर्य का चित्रकार कहा जाता है।

जिस प्रकार कला के सौन्दर्य में प्रेम को बड़ा स्थान मिला है उसी प्रकार विरह और वेदना को भी कला में स्थान मिला है। हमारे हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्तजी ने कवि की कविता का जन्म विरह से ही माना है। वे लिखते हैं:—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

कवि को विरह की अनुभूति होती है और उसकी कविता में कला का सौन्दर्य अनजान रूप में आता है। शेली ने भी कहा है—

"हमारे दुःखपूर्ण मनोविकारों की कथा कहने वाले हमारे मीठे गान ही होते हैं।"❀

❀ Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

एक क्रौंच पक्षी के बध को देखते ही आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में वेदना ने एक विशाल रूप धारण किया और उनसे एक महान् कलाकृति के रूप में एक विश्वविख्यात महाकाव्य का निर्माण हुआ। मानवजीवन के विरह और वेदना में सौन्दर्य का अभिनव रूप देखने की जो शक्ति कलाकार में है, यही उसकी कलाकृति के सोन्दर्य का मूल है, कलाकार अपने जीवन के विशेष कालों का सौन्दर्य अपनी कलाकृतियों में चित्रित करता है, वह अपने भविष्य काल को कलाकृतियों का विषय बना सकता है, उसके लिये किसी विशिष्ट काल का बन्धन नहीं है, अतीत में उसकी उज्जवल स्मृतियाँ याद का विषय बनती हैं और उनसे वह अतीत के सौन्दर्य क अनुभव करता है। वर्तमान काल में वह जीवन के यथ।र्थ सौन्दर्य को देखता है, तथा अपनी कल्पना और तर्क की सहायता से भविप्य के सौन्दर्य का अनुभव करता है। कलाकार अवश्य वर्तमान में रहता है लेकिन भविष्य क: ओर उसका ध्यान अधिक रहता है। लेकिन उमका वर्तमान उमके अतीत से आगे की वस्तु है। इसलिए अतीत से ही उसका वर्तमान बनता है। उसे अपनी पुरानी स्मृतियों की याद आती हैं और अतीत के प्रति उसका मोह बढ़ता जाता है। वह अपने अतीत को पुनः अभिनव रूप में देखना चाहता है, उसमें वह अनन्त सौन्दर्य का दर्शन करना चाहता है।

मनुष्य को अपना इतिहास अधिक प्रिय लगने का कारण ही उसका अतीत के प्रति प्रेम है। कितने कलाकारों ने अपने अतीत के जीवन के सौंदर्य को अपनी कला में फिर नव सौन्दर्य के रूप में देखने का प्रयत्न किया है, अतीत के सौन्दर्य की विधि हमारे वर्तमान और भविष्य के लिए सहायता का काम देती है। वास्तुकला का आदर्श ताजमहल का निर्माण एक बादशाह ने अपने अतीत की मनमोहक स्मृतियों को याद दिलाने के लिए किया। विश्व-साहित्य में साहित्य की जितनी महान् रचनाएँ हुई हैं, वे सब मनुष्य के अतीत के जीवन को लेकर ही हुई हैं। रामायण, महाभारत, पेराडाइज लॉस्ट, इलियड, कामायनी आदि महा-काव्य मनुष्य के अतीत को फिर एक बार अभिनव सौन्दर्य के रूप में देखने का प्रयत्न है।

कला के सौन्दर्य में जीवन की सच्चाई, गांभीर्य और चिर-शान्ति का सन्देश रहता है और इस संदेश को मूर्त रूप देने का कार्य सौन्दर्य के दो रूप करते

हैं। सौन्दर्य के विराट और कोमल रूप, कला के सौन्दर्य में आकर अपना अभिनव रूप दिखाते हैं। विराट सौन्दर्य में पुरुष प्रकृति का त्याग, प्रतिहिंसा, शक्ति, वीरता आदि मनोवृतियाँ काम करती हैं। इस प्रकार के सौन्दर्य में कला के सौदन्र्य का गांभीय दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार कोमल सौन्दर्य में मनुष्य-प्रवृत्ति को कोमल भावनाएँ, ममता, स्नेह, प्यार, दया आदि का समावेश होता है। विराट सौन्दर्य का स्वरूप पुरुषों में पाया जाता है और कोमल सौन्दर्य का रूप स्त्रियों में मुख्यता दिखाई पड़ता है। विराट सौन्दर्य में सौन्दर्य की गम्भीरता तथा कोमल सौन्दर्य में कोमलता मिलती है। इन दोनों के मधुर मिलन में ही सौन्दर्य की चिर-शान्ति का बोध होता है और इस चिर-शान्ति के भीतरी सत्य की अभिव्यक्ति करना कला की पूर्णता है और यही उसका सच्चा सौन्दर्य है।

काव्य-सुषमा

कबीर

साखी

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दिया बताय ॥१॥

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़ियाँ, अनँत दिखावण हार ॥२॥

जाका गुरु भी अन्धला, चेला खरा निरन्ध।
अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत ॥३॥

सतगुरु हममूँ रिझि कर, एक कह्या परसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥४॥

कबीर सतगुरु ना मिल्या, रही अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि-घरि माँगै भीख ॥५॥

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेले दास कबीर ॥६॥

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥७॥

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, सोवेगा दिन राति ॥८॥

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणैं राँम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काँम ॥९॥

कबीर सोई दिन भला, जा संत मिलाहिं।
अंक भरे भेटिया, पाप सरीरौ जाहिं ॥१०॥

सूरदास

[१]

चरण कमल बन्दौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कुछ दरसाई।।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुणामय बार-बार बन्दौ तिहि पाई।।

[२]

मुरली गति विपरीत कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाद समायो राधारमन बजाई।।
बछरा थन नाही मुख परसत, चरत नही तृन धेनु।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु।।
बिह्वल भये नही सुधि काहू, सुर गन्धब नर नारि।
'सूरदास' सब चकित जहाँ तहाँ, ब्रज जुवतिन सुखकारि।।

[३]

उधो! ना हम बिरहिनि, ना तुम दास।
कहत सुनत घट प्रान रहत हैं, हरि तजि भजहु अकास।।
बिरही मीन मरत जल बिछुरें, छाँड़ि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा, बरु सहि रहत पियास।।
प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली, प्रीतम कें बनवास।
सूर स्याम सों दृढ़व्रत कीन्हों, मेटि जगत उपहास।।

[४]

ऊधो! मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल, बिष-कीरा बिष खात।।

जौ चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जामों, सोहि ताहि सुहात ॥

[५]

ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दरि कगरी, अरु कुंजन की छाहीं ॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं ॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत, तनु नाहीं ॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं ॥

तुलसीदास

श्रीराम जी का प्रजा को उपदेश

एक बार रघुनाथ बोलाए । गुरु द्विज पुरबासी सब आए ।
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन । बोले बचन भगत भव भंजन ।।
सुनहु सकल पुरजन मम बानी । कहउँ न कुछ ममता उर आनी ।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई । सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ।।
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानै जोई ।
जौ अनीति कछु भाषौं भाई । तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ।।
बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ।।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ।।१।।

एहि तन कर फल विषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखादाई ।
नर तनु पाइ विषयँ मन देही । पलटि सुधा ते सठ बिष लेही ।।
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ।
आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ।।
फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।
कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ।।
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ।।२।।

जौ परलोक इहाँ सुख चहहू । सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू ।
सुलभ सुखद मारग यह भाई । भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ।

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहुँ टेका ।
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ । भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ ।।
भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ।।
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ।।
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा । जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ।।

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि ।
संकट भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ।।३।।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथा लाभ संतोष सदाई ।।
मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई । एहि आचरन बस्य मैं भाई ।।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ।
अनारम्भ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ।।
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा । तृन सम बिषय स्वर्ग अपवर्गा ।
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई । दुष्ट तर्क सब दूर बहाई ।।

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह ।
ता कर सुख सोइ जानइ परानन्द संदोह ।।४।।

——'उत्तरकाण्ड' से

मीराँबाई

[१]

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहिनी मूरति साँवरि सूरति नैना बने बिसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥१॥

[२]

मैं तो साँवरे के रँग राची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू, लोक लाज तजि नाची॥
गई कुमति लई साधु की सगत, भगत रूप भई साँची।
गाय गाय हरि के गुन निसदिन, काल ब्याल सूँ बाँची॥
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
मीराँ श्री गिरधरलाल सूँ, भगति रसीली जाँची॥२॥

[३]

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत, सिगरी ैण बिहानी हो॥
सब सखियन मिलि सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिनि देख्याँ कल नाहिं पड़त, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंगि अंगि ब्याकुल भई, मुखि पिय पिय बानी हो।
अन्तर बेदन बिरह थी, वह पीड़ न जानी हो॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ ब्याकुल बिरहिणी, सुध बुध बिसरानी हो॥३॥

[४]

पायो जी, मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो॥
जनम-जनम की पूँजी पाई जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे, दिन-दिन बढ़त सवायो॥
सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, हरख हरख जस गायो॥४॥

बिहारीलाल

दोहे

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय ॥१॥

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यो जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपत ताफता रंग ॥२॥

पत्राही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्योई रहत, आनन ओप उजास ॥३॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जल होय ॥४॥

तोपर वारों उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान ॥५॥

नहिं पराग नहीं मधुर मधु, नहि बिकास इहिकाल।
अली कली ही सों बँध्यों, आगे कौन हवाल ॥६॥

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात ॥७॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचै बृथा, साँचे राँचे राम ॥८॥

यह जग काँचो काँच सो, मैं समुझ्यों निरधार।
प्रतिबिंबित लखिये जहाँ, एकै रूप अपार ॥९॥

कोऊ कोटि संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार ॥१०॥

घनआनन्द

सवैये

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सब के मन लालच दोरे, पै बोरे लखै सब बुद्धि-चकी।
जग की कबिताई के धोखें रहै ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।
समुझै कबिता घनआनँद की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी।।१।।

हीन भएँ जलमीन अधीन, कहा कछू मो अकुलानि-समानै।
नीर-सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रोति सु क्यों समुझै जड़, मीत के पानि परे कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जोवनि जान ही जानै।।२।।

पहिलें घनआनँद सींचि सुजान कही बतियाँ अति प्यार-पगी।
अब लाय बियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, बिसास-दगानि दगी।
अँखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगै, कौन घरी सुलगी।
मति दौरी थकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास-ठगी।।३।।

पहलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यो फिरि तेह कै तौरिये जू।
निरधार अधार दै धार-मझार, दई ! गहि बाँहि न बोरियै जू।
घनआनँद आपने-चातिक कों, गुन-बाँधि लै, मोह न छोरियै जू।
रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौं बिस घोरिये जू।।४।।

घनआनँद जीवनमूल सुजान की कौधन हूँ न कहूँ दरसै।
सु न जानियै धौं कित छाय रहे दृग-चातिग प्रान तपे तरसै।
बिना पावस तो, इन थ्यावस हो न, सु क्यौं करि ये अब सो परसै।
बदरा बरसै रितु मैं घिरि कै नित ही अँखियाँ उघरी बरसै।।५।।

स्वप्न बंधन

सुमित्रानन्दन पन्त

बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बंधन में
एक मधुर जीवित आभा सी लिपट गई तुम मन में !
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में !

तन की सौ शोभाएँ सन्मुख चलती फिरती लगतीं,
सौ सौ रंगों में, भावों में तुम्हें कल्पना रँगती,
मानसि, तुम सौ बार एक ही क्षण में मन में जगती !

तुम्हें स्मरण कर जी उठते यदि स्वप्न आँक उर में छबि,
तो आश्चर्य प्राण बन जावें गान, हृदय प्रणयी कवि ?
तुम्हें देखकर स्निग्ध चाँदनी भी जो बरसावे रवि !

तुम सौरभ सी सहज मधुर बरबस बस जाती मन में
पतझर में लाती बसंत, रस स्रोत विरस जीवन में,
तुम प्राणों में प्रणय, गीत बन जाती उर कंपन में !

तुम देही हो ? दीपक लौ सी दुबली, कनक छबीली.
मौन मधुरिमा भरी, लाज ही सी साकार लजीली,
तुम नारी हो ? स्वप्न कल्पना सी सुकुमार सजीली ?

तुम्हें देखने शोभा ही ज्यों लहरी सी उठ आई,
तनिमा, अंग भंगिमा बन मृदु देही बीच समाई !
कोमलता कोमल अंगों में पहिले तन धर पाई !

फूल खिल उठे, तुम वैसी ही भूको दी दिखलाई,
सुन्दरता वसुधा पर खिल सौ-सौ रंगों में छाई,
छाया सी ज्योत्स्ना सकुची, प्रति छबि सी उषा लजाई !

तुम में जो लावण्य मधुरिमा, जो असीम सम्मोहन,
तुम पर प्राण निछावर करने पागल हो उठता मन !
नहीं जानती क्या निज बल तुम, निज अपार आकर्षण ?

बाँध लिया तुमने प्राणों को प्रणय स्वप्न बन्धन में,
तुम जानो, क्या तुमको भाया, मर्म छिपा क्या मन में,
इन्द्र धनुष बन हँसती तुम वाष्पो के जीवन घन में !

—'स्वर्ण धूलि' से

मुर्झाया फूल

महादेवी वर्मा

था कली के रूप शैशव—
में अहो सूखे सुमन !
मुस्कुराता था, खिलाती।
अंक में तुझको पवन।

खिल गया जब पूर्ण तू—
मंजुल सुकोमल पुष्पवर !
लुब्ध मधु के हेतु मँडराते
लगे आने भ्रमर ।

स्निग्ध किरणें चन्द्र की—
तुझको हँसाती थीं सदा,
रात तुझ पर वारती थी
मोतियों की सम्पदा।

लोरियाँ गाकर मधुप
निद्रा विवश करते तुझे,
यत्न माली का रहा—
आनन्द से भरता तुझे।

कर रहा अठखेलियाँ—
इतरा सदा उद्यान में,
अन्त का यह दृश्य आया—
था कभी क्या ध्यान में ?

सो रहा अब तू धरा पर——
शुष्क बिखराया हुआ,
गन्ध कोमलता नहीं
मुख मंजु मुरझाया हुआ।

आज तुझको देखकर
चाहक भ्रमर धाता नहीं,
लाल अपना राग तुझ पर
प्रात बरसाता नहीं।

जिस पवन ने अंक में——
ले प्यार था तुझको किया,
तीव्र झोकों से सुला——
उसने तुझे भू पर दिया।

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन?

मत व्यथित हो फूल! किसको
सुख दिया संसार ने?
स्वार्थमय सबको बनाया——
है यहाँ करतार ने।

विश्व में हे फूल! तू——
सबके हृदय भाता रहा।
दान कर सर्वस्व फिर भी——
हाय हर्षाता रहा।

(१२६)

जब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ संसार को,
कौन रोयेगा सुमन!
हमसे मनुज निःसार को?

'नीहार' से

तुम और मैं

सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'

तुम तुंग-हिमालय-शृंग
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता
तुम विमल-हृदय-उच्छ्वास्
और मैं कान्त-कामिनी-कविता;
तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरापान-घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति ।

तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान,
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान;
तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा
तुम नन्दन-वन-घन-विटप
और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा,
तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।

तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं वेणी काल-नागिनी,
तुम कर-पल्लव-झङ्कृत सितार
मैं व्याकुल विरह-रागिनी।
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम राधा के मन-मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट जोहती आशा,
तुम भव-सागर दुस्तार,
पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरत-काल के बाल-इन्दु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा।
तुम गन्ध-कुसुम कोमल पराग
मैं मृदुगति मलय-समीर,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम-जंजीर।
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।
तुम आशा के मधुमास
और मैं पिक-कल-कूजन-तान,
तुम मदन-पंच-शर-हस्त,
और मैं हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घन-पटल-श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका रचना।

तुम रण-ताण्डव उन्माद-नृत्य,
मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि,
तुम नाद-वेद-ओंकार-सार,
मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि।
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु-अरविन्द-शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

—'अपरा' से

दीपावली का एक दीप

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, 'अज्ञेय'

दीपक हूँ मस्तक पर मेरे
अग्निशिखा है नाच रही--
यही सोच समझा था शायद
आदर मेरा करें सभी!

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब
स्नेह सभी निःशेष हुआ--
बुझी ज्योति मेरे जीवन की
शव से उठने लगा धुआँ;

नहीं किसी के हृदय-पटल पर
खिंची कृतज्ञता की रेखा,
नहीं किसी की आँखों में
आँसू तक भी मैंने देखा!

मुझे विजित लखकर भी दर्शक
नहीं मौन हो रहते हैं,
तिरस्कार विद्रूप भरे वे
वचन मुझे आ कहते हैं--

'बना रखी थी हमने दीपों
की सुन्दर ज्योतिर्माला--
रे कृतघ्न, तूने बुझ कर क्यों
उसको खण्डित कर डाला?'

--'इत्यलम्'

है एक पहेली मानव भी !

गोपालशरण सिंह

है एक पहेली मानव भी !

है हृदय-देश का स्वामी भी,
है वह मन का अनुगामी भी,
निष्काम और है कामी भी,

है विष्णु विरंचि तथा भव भी;
है एक पहेली मानव भी !

वह हुआ अतीव पुरातन है,
कर चुका अतुल ज्ञानार्जन है,
अतिशय विकसित उसका मन है,

पर है अजान बालक अब भी;
है एक पहेली मानव भी—!

है वह त्रिलोक का नायक भी,
है वह जग का उन्नायक भी,
है अमर गान का गायक भी,

है सम्भव उसे असम्भव भी;
है एक पहेली मानव भी !

है उसके मन में स्वर्ग छिपा,
है सत्य छिपा अपवर्ग छिपा,
है प्रेम छिपा उत्सर्ग छिपा,

पर छिपा उसी में दानव भी;
है एक पहेली मानव भी;

लोचन में है घन सजल छिपा,
मन में झंझानिल प्रबल छिपा,
उर में है भीषण अनल छिपा,
है वह कठोर एवं द्रव भी;
है एक पहेली मानव भी!

--'सागरिका' से

कवि की मृत्यु

रामधारी सिंह 'दिनकर'

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
चाँदनी मचलने लगी कफन बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कंधों पर उठा लिया,
बन ने भेजे चंदन-श्रीखण्ड जलाने को।

सूरज बोला, यह बड़ी रोशनीवाला था,
मैं भी न जिसे भर सका कभी उजियाली से;
रँग दिया आदमी के भीतर की दुनिया को
इस गायक ने अपने गीतों की लाली से।

बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझमें यौवन का नया वेग जग जाता था।
इसके चिन्तन में डुबकी एक लगाते ही,
तन कौन कहे, मन भी मेरा रँग जाता था।

देवों ने कहा, बड़ा सुख था इस के मन की
गहराई में डूबन और उतराने में।
माया बोली, मैं कई बार थी भूल गई
अपने को गोपन भेद इसे बतलाने में।

योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढ़ाये हुए दौड़ता चलता था।
जब-जब लेता यह पकड़ और हँसने लगता,
धोका देकर मैं अपना रूप बदलता था।

मर्दों को आई याद बाँकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।

जिसके आगे तूफान अदब से झुकते हैं;
उसको भी इसने अंकार से झेला था।
नारियाँ बिलखने लगीं, बाँसुरी के भीतर
जादू था, कोई अदा बड़ी मतवाली थी,
गर्जन में भी थी नमी, आग से भरे हुए
गीतों में भी कुछ चीज रुलानेवाली थी।
वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसू से भरी हुई,
पानी में जैसे कमल डूब उतराता हो।
वह मस्ती में झूमते हुए उसका आना,
मानो, अपना ही तनय झूमता आता हो।
चिन्तन में डूबा हुआ, सरल, भोला-भाला
बालक था, कोई पुरुष दिव्य अवतारी था।
तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हमसे भी बढ़ कर नारी था।
चुपचाप जिन्दगी भर इसने जो जुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है ?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।
पर इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया जिन्दगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।
बेबसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिए !
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।
ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते,
बचकर उनको बेदाग निकलना होता है।
जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।

चुन-चुन कर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता ?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीति ही देता है।
कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफिल उजड़ गई, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

—'नील कुसुम' से

मिट्टी और फूल

नरेन्द्र शर्मा

[१]

वह कहती, 'है तृण-तरु-प्राणी जितने, मेरे बेटा-बेटी !'
ऊपर नीला आकाश और नीचे सोना-माटी लेटी !
'मैं सब कुछ सहती रहती हूँ, हो धूप-ताप वर्षा-पाला,
पर मेरे भीतर छिपी हुई है बिन बुझी एक भीषण ज्वाला !
मैं मिट्टी हूँ, मैं सब कुछ सहती रहती हूँ चुपचाप पड़ी,
हिम-आतप में गल ओर सूख पर नहीं आज तक गली सड़ी !
मैं मिट्टी हूँ, मेरे भीतर सोना-रूपा, नौरतन भरे !
मैं सूखी हूँ, पर मुझसे ही फल-फूल और बनबाग हरे !
मैं पावों के नीचे, मैं हूँ पर पर्वत पर की चोटी !
मेरी छाती पर शत पर्वत, मैं मिट्टी हूँ सब से छोटी !
मैं मिट्टी हूँ—अंधी मिट्टी, पर मुकुल-फूल मेरी आँखें !
मैं मिट्टी हूँ—जड़ मिट्टी हूँ, पर पत्रों में मेरी पाँखें !
मैं मिट्टी हूँ—मैं वर्णहीन, पर निकले मुझसे वर्ण सकल !
मेरे रस में प्रसून रंजित, रंजित नव अंकुर, पल्लव-दल !
मैं गंधहीन, मुझसे करते फल फूल मूल पर गंध ग्रहण ;
जलवायु व्योम में जो गंधरहित करते वे किसकी गंध वहन ?
मैं शव की शय्या, मुझसे ही उगते है नव जीवन-अंकुर,
नभ में कैसे खेती करता सब जीवों में जो जीव चतुर ?
आती है मेरे पास खगी दाने दाने को चोंच खोल,
तिन दबा चटुल उड़ जाती है मेरे पेड़ों पर वह अबोल !

मुझसे बनते हैं महल और ये खड़ी मुझी पर मीनारें,
मैं करवट लेती—ढह जाते है दुर्ग, चीन की दीवारें!
हाँ, बुद्धिजीव आदर्शमुग्ध मानव भी मेरी ही कृति है,
पैगम्बर और सिकन्दर का मुझसे अथ है मुझमें इति है!
मेरे कन-कन पर उडुगन भी वारा करते हिमकन-मोती,
जिनकी सतरगी गोदी में सिर धर सूरज किरणें सोती!
मै मर्त्यलोक की मिट्टी हूँ, मै सूर्यलोक का एक अंश;
आती है जिस घर से किरणें है मेरा भी तो वही अंश!

[२]

इतने में आया हँस बसन्त, मिट्टी को चूमा खिला फूल!
थल का बुलबुला फूल जैसे, हँसता समीर में झूल झूल;
जिस मिट्टी से जीवन पाया, वह उस मिट्टी को गया भूल,
थल का बुलबुला फूल जैसे, हँसता समीर में झूल झूल?
देखा तो तारो को, सोचा—'मैं भी उड़ जाऊँ बहुत दूर,
है जहाँ जल रहा नीलम के मन्दिर में वह कर्पूर चूर!'
तितली को देखा और कहा—'मुझको दे दो दो चटुल पंख';
मैना आई तो उससे भी उड़ने को मांगे चटुल पंख!
फिर आ निकली बन की चिड़िया तिनके चुगने, चुग्गा लेने,
'ले चलो मुझे भी उड़ा कहीं' यों फूल लगा उससे कहने!
चिड़िया की चोंच बसन्ती थी, था फूल गुलाबी रंगभरा,
बस पल में दीखा चिड़िया के मुँह में वह डंठल हरा-हरा!
ऊपर था नीला आसमान, दीखी नीचे सोना धरती,
थल का बुलबुला फूल टूटा, पर मिट्टी इसमें क्या करती?
आ गिरा धरा पर फूल, मिला मिट्टी में छिन में, हुआ धूल!
जिस मिट्टी से जीवन पाया, था उस मिट्टी को गया भूल!
मिट्टी कहती—'मै सब कुछ सहती रहती हूँ चुपचाप पड़ी,
हिम-आतप में गल और सूख पर नहीं आज तक गली सड़ी!'

—'मिट्टी और फूल' से

महात्मा जी के महा निर्वाण पर

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

क्या सुना आज इन कानों ने
मेरे बापू तुम नहीं रहे ?
युग-युग के बापू नहीं रहे ?
जन-गन के बापू नहीं रहे ?
विश्वास नहीं होता सचमुच
उर की धड़कन कहती रुक-रुक
जब तक ऊसर हैं पग-पग में
हिमगिरि कैसे ढह सकता है ?
जब तक अँधियारा है जग में
, दिनकर कैसे बुझ सकता है ?
जब तक दुर्योधन घर-घर में
चिर - सत्य - अहिंसा - ब्रती रथी
पथ पर कैसे रुक सकता है ?
यह पहला अवसर जब कि
सत्य भी छलना बनकर छलता है,
तुम को पाना खोना दोनों
अद्भुत सपना-सा लगता है।
तुम देही कब थे देव !
सदा उन्मुक्त तुम्हारी हस्ती थी।
हे अमर ज्योति मिट्टी तुमको
कब तक बाँधे रख सकती थी

तुम कहाँ नहीं हो आज
खेत-खलिहान-मलि-झोपड़ियों में,
गृह-गृह में, अन्तर-अन्तर में,
अविरल आँसू की लड़ियों में
दिग में दिगन्त में व्याप्त
सूर्य-शशि-तारक-द्युति-फुलझडियों में
तुम बिखर गए मेरे विराट्,
ब्रह्माण्ड - विकास - विवर्त्तन में
तुम निखर उठे चिरज्योतिर्मय—
क्षेत्रज्ञ, चेतना चेतन में
सहसा सिहरन-सी दौड़ गई
कण-कण अणु-अणु के स्पन्दन में
हे पिता, तुम्हीं ने हम सब को
गति दी जीवन का ज्ञान दिया
हँस-हँस स्वतंत्रता की वेदी पर
मिटने का अभिमान दिया
युग-युग से शोषित मानवता की
मुक्ति-हेतु आह्वान किया
समता-स्वतंत्रता-शान्ति-स्नेह हित
जीवन तक बलिदान किया
दलितों की आर्त्त गुहारों पर
घर-घर दौड़े, आँसू पोंछे
क्या-क्या न सहा, क्या-क्या न किया ?
तुमने झकझोर जगाया पर
युग की जड़ता न हिली न डुली,
जब तुम आए मुँद गई पलक
जब चले गए तब आँख खुली

पी गए हलाहल जिससे
सदियों तक जग अमृत पिया करे,
दे गए आयु बाकी
जिससे मानवता युग-युग जिया करे।
जो राह न अब तक देखी थी
वह हमें सहज ही दिखा गए
जीकर जीना सिखलाया था
मरकर मरना भी सिखा गए।
दाता, देते ही रहे सदा
बदले मे कभी न कुछ चाहा,
जगती का दाह मिटाने में
आजीवन अपने को दाहा।
पर हमने अपने ही हाथों
अपना अवलंब उजाड़ दिया
विष घोला शान्ति-सरोवर में
ममतालु कलेजा काढ़ लिया
तुम फिर भी करने क्षमा गए
हत भाग्य कलंकी पूतों को।
जीवन-भर करते पूत रहे
हम जैसे पतित अछूतों को
किन अभिशापों के बदले में
भोली मानवता छली गई
ऐसा लगता है साथ तुम्हारे
क्षमा दया भी चली गई।
दिन-रात हमारी छाया से
युग की संस्कृतियाँ भागेंगी
आने वाली पीढ़ियाँ
हमीं से इसका उत्तर माँगेंगी

उत्तर केवल, अनुताप, लांछना
घृणा, दहकती छाती पर,
उत्तर केवल अभिशाप व्यंग, विद्रूप
पितामह - घाती पर।
वह मानवता का पाप-पुंज
कल्मष - भागी,
वह नहीं व्यक्ति जिसने
तुम पर गोली दागी,
वह उस परम्परा का जिसमें
रावण, नीरो औ' कंस हुए,
जिसमें दुर्योधन, हिरणाकश्यप
औ' जारों के वंश हुए।
मैं नाम नहीं लूँगा उसका
वाणी कलुषित हो जायगी,
लेखनी मुझे धिक्कारेगी
जिह्वा कटकर गिर जायेगी
जिस पामर क्रूर कसाई पर
थूकेंगी सदियों पर सदियाँ
जिसके कारण इस देश-जाति को
घृणा करेगी सब दुनिया।
जिसको भेड़िए न खाएँगे
गिद्धों की दृष्टि न देखेगी
जिसके वर्णों पर माताएँ
शिशुओं के नाम न रक्खेंगी
क्या कहूँ कि हम सबके रहते
कैसे यह घोर अनर्थ हुआ,
बलिदान शहीदों के लज्जित
आजादी मिलना व्यर्थ हुआ।

आश्चर्य पितामह की हत्या
कैसे सह ली तरुणाई ने?
हम खड़े देखते रहे
और गो-वध कर दिया कसाई ने
कायरता है कहना, होता है
जो हरि-इच्छा होती है
यह वध मानवता को
पशुता की सबसे बड़ी चुनौती है
यह वध है शान्ति, अहिंसा,
श्रद्धा, क्षमा, दया, तप, समता का
यह वध है करुणामयी--
सिसकती दुखिया माँ की ममता का।
यह वध है उन आदर्शों का
जिन पर यह मानवता बिकी हुई
यह वध है उन उत्कर्षों का
जिन पर यह दुनिया टिकी हुई
यह वध, संस्कृति के मूर्तिमान
आराधक औ' अधिकारी का
कुछ साधारण वध नहीं
विश्व के सच्चे प्रेम-पुजारी का
यह वध है पुण्य प्रसू धरती का
परम-पुनीता सीता का
यह वध युग-युग के काल-पुरुष का
वासुदेव का, गीता का।
अब भटको तम में सदियों तुम
दीपक की ज्वाला रूठ गई
ओ धर्म धुरीणो, होश करो
अब धुरी धर्म की टूट गई।

—'पर आँखें नहीं भरीं' से

एक भारतीय युवक की तेइसवीं वर्षगाँठ

राजेंद्र किशोर

कुछ दिन बीते गोद-हिंडोले
कुछ दिन पैंया-पैया में,
कुछ दिन बीते खेल-कूद में
कुछ बीते लड़कैंया में,
कुछ दिन बीते परिचय करते
दुनिया की तस्वीरों से,
कुछ दिन बीते नाता करते
शबनम की जंजीरों से,
बाइस साल गुजरते कोई
देर न लगी जमाने मे,
वक्त उतरता गया उमर के
छोटे से पैमाने में !

आज साल तेइसवाँ आया
बातें करता भोर से
और अचानक लगी बाँधने
दुनिया मुझको डोर से
माँ ने कहा—"पिता को देखो
बोझ करो हल्का उनका।
बहन सयानी पड़ी हुई है,
हँसी पड़ोस उड़ाता है,

कैसे होगा ?....तुम्हीं विचारो।
कानी कौड़ी पास नहीं है
सिवा तुम्हारे आस नहीं है।
खेत पड़े हैं सब बंधक में
गहने चढ़े सूद पर जिनकी,
और पिता पर चढ़ा बुढ़ापा
आस नहीं जिनके पल-छिन की।
इसीलिए कहती हूँ बेटा,
धंधा ढूँढो, बनो सहारा,
और डूबती हुई नाव को
किसी तरह मिल जाय किनारा।"

वर्षगाँठ के पर्व-दिवस में
सोच रहा हूँ मैं बौराया--
बहन सयानी और कुआँरी...
बाप थका, जर्जर, घबराया...
माँ की सूनी दृष्टि, बुझी मुस्कान
और कब्रों सी काया...
यह कैसा तूफान परिधि में लिए साल तेइसवाँ आया ?

कल तक चुने कुसुम नन्दन के,
आज अचानक कठिन भुवन के
शल भरे रस्तों पर मेरा
पाँव जमाने ने बैठाया,
कल तक हँसी ढली जिस मन में
आज उसी में दर्द समाया।
धंधा !...मगर कहाँ से धंधा ?
चारो ओर निराशा छाई,

कैसे पूजे आस पिता की ?
कैसे बहन सुने शहनाई ?
वर्षगाँठ के पर्व-दिवस में
सोच रहा हूँ मैं बौराया––
यह कैसा तमतोम परिधि में लिए साल तेइसवाँ आया।

––'**नयी कविता**' **से**

फूल को हक़ दो

केदारनाथ सिंह

फूल को हक दो, वह हवा को प्यार करे,
ओस, धूप, रंगों से जितना भर सके, भरे,
सिहरे, काँपे, उभरे,
और कभी किसी एक अँखुए की आहट पर,
पंखड़ी-पंखड़ी सारी आयु नाप कर दे दे
किसी एक अनदेखे-अनजाने क्षण को,
नये फूलों के लिये।
गन्ध को हक़ दो वह उड़े, बहे, घिरे, झरे, मिट जाये,
नयी गन्ध क लिये!
बादल को हक़ दो—वह हर नन्हें पौधे को छाँह दे, दुलारे,
फिर रेशे-रेशे में हल्की-हल्की सुरधनु की पत्तियाँ लगा दे,
फिर कहीं भी, कहीं भी गिरे, बरसे, घहरे, टूटे चुक जाये—
नये बादल के लिए!
डगर को हक दो—वह कहीं भी, कहीं भी किसी,
बन, पर्वत, खेत, गली, गाँव-चौहटे जाकर—
सौंप दे थकन अपनी,
बाँहें अपनी—
नयी डगर के लिये!
लहर को हक़ दो—वह कभी संग पुरवा के,
कभी साथ पछुआ के—
इस तट पर भी आये उस तट पर भी जाये,
और किसी रेती पर सिर रख सो जाये,

नयी लहर के लिये !
व्यथा को हक़ दो—वह भी अपने दो नन्हें
कटे हुए डैनों पर,
आने वाले पवन भोर की किरन पहली,
झेलकर बिखर जाये,
झर जाये—
नयी व्यथा के लिये !
माटी को हक़ दो—वह भीजे, सरसे, फूटे, अँखुआये,
इन मेड़ों से लेकर मेड़ों तक छाये,
और कभी हारे,
(यदि हारे)
तब भी उसके माथे पर हिले,
और हिले,
और उठती ही जाये—
यह दूब की पताका—
नये मानव के लिये !

—**'नयी कविता' से**

सुषमा

हरिवंश राय 'बच्चन'

(१)

किसी समय ज्ञानी, कवि, प्रेमी,
तीनों एक ठौर आए,
सुषमा ही से थे सबने
अपने मनवांच्छित फल पाए।
सुषमा ही उपास्य देवी थीं
तीनों की त्रय कालों में,
पर विचार सुषमा पर सबने,
अलग-अलग ही ठहराए!

(२)

'वह सुषमा थी नहीं, न उसने
तुझको अगर प्रकाश दिया।
'वह सुषमा थी नहीं, न उसने
तुझे अगर उन्मत्त किया।'
ज्ञानी औ' कवि की वाणी सुन
प्रेमी आहें भर बोला,
'सुषमा न थी, नहीं यदि उसने
आत्मसात कर मुझे लिया!'

(३)

एक व्यक्ति साधारण उनकी
बातें सुनने को आया,
मौन हुए जब तीनों तब वह
उच्च स्वर से चिल्लाया,

'मूढ़ो, मैंने अब तक उसको
कभी नहीं सुषमा समझा
जिसके निकट पहुँचते ही
आनन्द नहीं मैंने पाया!'

(४)

एक बिन्दु पर अब तीनों के
मिल जाने की आशा थी,
क्या अन्तिम ही सबसे अच्छी
सुषमा की परिभाषा थी?

——'मधुकलश' से

गद्य-सुषमा

(टिप्पणियाँ)

जीवन में साहित्य का स्थान

प्रेमचन्द

आधुनिक गद्य-साहित्य के उन्नायकों में प्रेमचंदजी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने उपन्यासों तथा कहानियों द्वारा हिन्दी साहित्य में एक नए युग का निर्माण किया। उन्होंने अपने साहित्यिक निबंधों द्वारा साहित्य के आदर्श पर प्रकाश डाला है। प्रेमचंदजी का जीवन के प्रति अपना एक विशेष दृष्टिकोण था और वे साहित्य के द्वारा जीवन का सुधार करना चाहते थे। इसलिये उनके हर एक निबंध में साहित्य के आदर्श के साथ जीवन की भी व्याख्या मिलती है। प्रेमचंदजी ने साहित्य का आधार जीवन माना है। साहित्य के द्वारा मनोरंजन होता है और जीवन का उद्देश्य भी आनन्द पाना है। मनुष्य तो हर एक रस में आनन्द लेना चाहता है। इसलिये उसकी सौन्दर्यानुभूति भी तीक्ष्ण होती है। मनुष्य के स्वाभाविक जीवन में सौन्दर्य और सत्य का दर्शन नहीं होता है। परन्तु आनन्द का सम्बन्ध केवल सत्य या सौन्दर्य से ही नहीं, आत्मा से भी है। साहित्य हृदय की वस्तु होने पर भी उसका सम्बन्ध मस्तिष्क के साथ भी होता है। अमर साहित्य में हृदय और मस्तिष्क का सामंजस्य मिलता है। अमर साहित्य का निर्माण व्यास, वाल्मीकि जैसे महान् तपस्वी द्वारा होता है। अमर साहित्यकार में भावों की व्यापकता तथा विश्व के साथ सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति होनी चाहिये। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और राष्ट्र का उत्थान विश्व के उत्थान में परिणत हो जाता है। किसी राष्ट्र का मूल्यांकन उसके साहित्यिक आदर्शों की जाँच कर भी किया जा सकता है। यह बात सत्य है कि साहित्यकार अपने देश या राष्ट्र की परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है, परन्तु वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक हो सकता है। साहित्य में तत्कालीन परिस्थितियों का दर्शन होने पर भी साहित्य कभी पुराना नहीं होता। हमारी सभ्यता भी साहित्य पर आधारित है। हमारी सभ्यता में सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का आदर्श स्थापित करने

का कार्य साहित्य द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार साहित्य द्वारा जीवन का सुधार हो सकता है, इसलिये जीवन में साहित्य का स्थान महत्वपूर्ण है।

समुद्र-सन्तरण

जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसादजी पहले कवि हैं और बाद में गद्य-लेखक। उनकी काव्यात्मक अनुभूति का परिचय उनके नाटकों, कहानियों, उपन्यासों, और निबंधों में मिलता है। उनका भावपक्ष गद्य में उछलता हुआ दिखाई पड़ता है, इसलिए उनकी गद्य-रचनाओं में बीच-बीच में गद्य-गीतों की सृष्टि भी निर्मित हुई है। उनकी अधिकतर कहानियों में काव्यात्मक वातावरण तथा कल्पना का माधुर्य मिलता है। उनकी 'समुद्र-संतरण' शीर्षक कहानी में कहानी के तत्वों की अपेक्षा प्रतीक-तत्वों का अधिक समावेश हो गया है। कहानी में सर्वत्र काव्यात्मक तथा कल्पना-प्रधान वातावरण का वर्णन मिलता है। उनके प्रसिद्ध गीत—'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' के रहस्यात्मक भाव को प्रतीक रूप में इस कहानी में उपस्थित करने का प्रयास हुआ है। कहानी में राजकुमार सुदर्शन और धीवर कुमारी की सुन्दर प्रेम-कथा मिलती है। दोनों ही प्रकृति के प्रेमी है। उनका प्रेम प्रकृति के प्रांगण में संगीत और वंशी की मधुर लहरियाँ निर्माण करता है। धीवर कुमारी केवल सुन्दर ही नहीं, सरल भी है। उसे देखकर राजकुमार सुदर्शन की सोई हुई सौन्दर्य-तृष्णा जाग गई। उनका प्रेम समाज और जाति के बन्धनों को तोड़ना चाहता है। इसलिए वे संतरण करना चाहते हैं और पृथ्वी से दूर राज्य में—जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल, कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं सीधा आत्म-विश्वास है; वैभव नहीं सरल सौन्दर्य है—निवास करना पसन्द करते हैं। इस कहानी का अन्त चंडी प्रसाद 'हृदयेश' की 'पर्यवसान' शीर्षक कहानी के अन्त से मेल खाता है।

दीन-बन्धु ऐण्ड्रूज़

बनारसीदास चतुर्वेदी

हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार आचार्य बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने अनेक संस्मरणात्मक लेखों द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवा की है। उनके व्यक्तित्व में राजनीति, सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि प्रवृत्तियों का समन्वय मिलता है। अपने सार्वजनिक जीवन में वे महात्मा गाँधी, कवीन्द्र, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज जैसे महाविभूतियों के संपर्क में आये। उन्होंने व्यक्तिगत निबन्ध की शैली में इन महाविभूतियों के जीवन पर संस्मरणात्मक लेख लिखे हैं। उनके 'दीन-बन्धु ऐण्ड्रूज' शीर्षक संस्मरणात्मक लेख में एक ऐसे विदेशी साधक का चित्र मिलता है जिसकी कीर्ति प्रकाश तथा जलवायु के समान देशों की सीमा पार कर सारे संसार में व्याप्त हो गई है। एक अंग्रेज भी भारत-भूमि का सुपुत्र हो सकता है, इसका आदर्श उदाहरण उनके व्यक्तित्व के द्वारा सब के सामने उपस्थित किया जा सकता है। अंग्रेजी राज्य-काल में अनेक भारत-पुत्रों पर जिस प्रकार अत्याचार किया गया था, उसी प्रकार उनकी भी बड़ी दुर्दशा की गई थी। उन्हें स्वदेश तथा भारत में भी अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता था। फिर भी इस भारत-भक्त ने भारत-भूमि की सेवा ३६ वर्ष तक की। उन्होंने अपने विचारों द्वारा भारत में स्वाधीनता की भावना को प्रबल बना दिया। ऐसे भारत-भक्त का व्यक्तित्व किसी भी देश में वन्दनीय हो सकता है।

पाप के चार हथियार!

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' हिन्दी के एक अच्छे निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में उनके जीवन के अनुभवों का सार मिलता है। उन्होंने अपने 'पाप के चार हथियार' शीर्षक निबन्ध में पाप की अजेयता का सुन्दर विश्लेषण किया है। पाप और सुधारक के सत्य में हमेशा विरोध रहता है। पाप के —उपेक्षा, निन्दा, हत्या आदि चार हथियारों द्वारा सुधारक तथा उसके सत्य की पराजय

होती रही है। पाप के ये चार हथियार अतीत में अजेय रहे है और भविष्य में भी अजेय रहेंगे, इस बात का सुन्दर विश्लेषण इस लेख में मिलता है।

प्यार की नींव

यशपाल जैन

हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य में यशपाल जैन अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनका पूर्ण विश्वास है कि हमारा समाज मानव के आधार-भूत गुणों पर टिका है। इसलिए उनकी कहानियों में मनुष्य के आदर्श गुणों को प्राधान्य मिला है। अपनी 'प्यार की नींव' शीर्षक कहानी में उन्होंने इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि मुसीबत से डर कर कायर भागते हैं और जिसकी जिन्दगी की इमारत प्यार की नींव पर खड़ी हुई है, उसे डरने की जरा भी जरूरत नहीं है। कहानी के मुख्य पात्र के रूप में रहमतउल्ला खाँ नामक 'मौलवी साहब' के जीवन का आदर्श उपस्थित किया गया है। उनकी पत्नी फातिमा और पुत्र करीम की मृत्यु हो चुकी है। फिर भी वे ग्रामीण बच्चों को पढ़ाने में व्यस्थ रहते हैं। बच्चों के गुरु होने के कारण वे सारे गाँव के आदरणीय तथा कृपापात्र बन गये हैं। लेकिन अचानक देश में सांप्रदायिकता की आग भभक उठने के कारण चारों ओर भयंकर दृश्य दिखाई देने लगे। लेकिन मौलवी साहब हिन्दू बच्चों में अपनी शक्ति का उपयोग करते रहे। एक दिन उनके तीन विद्यार्थी उनकी हत्या करने के लिए आते हैं। उनके इस षड्यन्त्र का पता पहले उनको था, फिर भी वे चारपाई पर लेटकर अपने विद्यार्थियों की प्रतीक्षा करते रहे। रात में ठीक समय उनकी हत्या करने के लिए विद्यार्थी आये। उनका विद्यार्थी गिरधारी उनकी चारपाई से दो गज की दूरी पर रुक गया और उनकी हत्या करने के लिए एक कदम आगे बढ़ा। यह काम उससे नहीं हो सका। अपने प्रिय मौलवी साहब की हत्या वह न कर सका। मौलवी साहब तो उसे अपना काम पूरा करने के लिए कहते हैं परन्तु गिरधारी ने अपने हाथ में रखा हुआ शस्त्र फेंक दिया और आगे बढ़कर हुक्के पर चिलम उठाकर भागने के लिए बोरसी की ओर बढ़ गया। गिरधारी की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। कहानी का अन्त बहुत ही हृदयस्पर्शी है।

आशा

डॉ० रघुवीर सिंह

हिन्दी के भाव-प्रधान निबन्धकारों में डा० रघुवीर सिंह का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनके विचार-प्रधान निबन्धों में भी उनके हृदय की कोमलता और लालित्य का दर्शन होता है। गहरी भावात्मकता पर आधारित कल्पना की सहायता लेकर उन्होंने अपने निबन्धों के विषय को मर्मस्पर्शी तथा प्रभावशाली बनाया है। उन्होंने अपने 'आशा' शीर्षक निबन्ध में आशा मनोविकार का मानवीकरण करके उसके उद्‌गम और विकास की भावपूर्ण व्याख्या की है। दुःखित मानव आशा को क्यों नहीं छोड़ सकता इसका सुन्दर विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में हुआ है। लेखक ने इस निबन्ध को इतने कलापूर्ण ढंग से लिखा है कि उसमें कथा का रूप भी दिखाई पड़ता है।

मौक्तिक माल

दिनेशनन्दिनी डालमिया

आधुनिक गद्य-गीतकारों में दिनेशनन्दिनी डालमिया (चोरड्या) का स्थान बहुत ही ऊँचा है। उनके गद्य गीतों को पढ़कर ऐसा लगता है कि लेखिका के चारो ओर निराशा का अन्धकार है और उनकी आँखें प्रभात के सुनहले स्वप्नों को देखने के लिए लालायित हैं। उन्होंने अपने गीतों द्वारा प्रेम के हर-एक पहलू को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। और उनमें विरह और निराशा की मार्मिक दशा का चित्रण हुआ है। उनके 'मौक्तिक माल' शीर्षक गद्य-गीतों के संग्रह में प्रेम की अलौकिकता की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। प्रस्तुत 'मौक्तिक माल' शीर्षक पाठ में गद्य-गीतों का चुनाव इस ढंग से किया गया है कि एक विरहिणी नारी की प्रेम दशा का चित्र संपूर्ण रूप में पाठकों के सामने उपस्थित हो जाय। मानवी जीवन कितना कठोर, गूढ़ और विचित्र हो सकता है, इसकी आभा इन गद्य-गीतों की माला में दिखाई पड़ती है।

चारित्र्य

रामनाथ 'सुमन'

श्री रामनाथ सुमन हिन्दी साहित्य के एक महान् तपस्वी हैं। उनकी साधना का दर्शन उनके सांस्कृतिक तथा साहित्यिक निबन्धों में मिलता है। उनके अनुसार जीवन एक यज्ञ है और उसकी अग्नि सदैव प्रदीप्त तथा प्रकाशित रहनी चाहिये। सुमनजी ने अपने 'चारित्र्य' शीर्षक निबन्ध में मनुष्य को अपने गौरव के प्रति आकर्षित तथा कर्त्तव्य के प्रति सतर्क रहने का मार्ग प्रदर्शन किया है। जीवन में चारित्र्य ही सब कुछ है और मनुष्य उसकी सहायता से जो चाहे कर सकता है। चारित्र्यबल ही मानव-सभ्यता का दीपक है। चारित्र्य के महादीपक के प्रकाश की सहायता से कोई भी राष्ट्र अपने व्यक्तिव को स्वर्णमय बना सकता है।

सफलता की कुञ्जी

सत्यकाम विद्यालंकार

सत्यकाम विद्यालंकारजी एक बहुत अच्छे विचारक हैं। प्रस्तुत 'सफलता की कुञ्जी' शीर्षक लेख हिन्दी में अपने ढंग का एक स्वतन्त्र निबन्ध है जिसमें लेखक के गहरे अनुभवों और विचारों का परिचय हमें मिलता है। विद्यालंकारजी के अनुसार जीवन का निर्माण चरित्र-निर्माण है। ऊँचे-ऊँचे उपदेशों को सुनकर आदमी अपना जीवन सफल नहीं बना सकता। हमें अपने चारित्र्य की सहायता से जीवन में सफलता प्राप्त करनी है। जीवन में भयंकर समस्याएँ हमारे सामने आती हैं। उनको सुलझाने का कार्य विशेष प्रयत्नों द्वारा ही किया जा सकता है। जो आदमी प्रयत्नशील रहने में आनन्द मानता है उसके लिये सफलता कोई बड़ी चीज नहीं है। सफलता तो एक मानसिक अवस्था है। यह तो किसी विशेष विषय की ओर संकेत नहीं करती या किसी निश्चित स्थल का नाम नहीं बताती। सफलता तो उसी मनुष्य को मिलती है जो अपनी

शक्ति द्वारा निर्माणोन्मुख विचारों में उत्साह तथा स्फूर्ति निर्माण कर सकता है। सफल आदमी असम्भव को सम्भव बनाने की क्षमता पर कभी अविश्वास नहीं करता। मनुष्य को अपने व्यक्तित्व पर विश्वास करना चाहिये, क्योंकि विश्वास के बिना हर एक कार्य कठिन हो जाता है। जिस आदमी में निराशा के भाव कभी पैदा नहीं हो सकते, उसी पर हमेशा विजयश्री की कृपा रहती है और ऐसे ही आदमी की सफलता पर विश्वास करना चाहिये।

साहस

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी के साहित्यिक निबन्धों में शुक्लजी के निबन्धों को बहुत ऊँचा स्थान मिला है। परन्तु शुक्लजी पहले समालोचक हैं और बाद में निबन्धकार। प्रस्तुत 'उत्साह' शीर्षक उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध में उत्साह मनोभाव का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। शुक्लजी ने उत्साह मनोभाव की व्याख्या करते समय यह स्पष्ट लिखा है कि साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है और कर्म-भावना प्रधान ही सच्चा उत्साह है। इस प्रकार उन्होंने उत्साह को मनुष्य-जीवन के साथ जोड़ा है। शुक्लजी का कहना है कि उत्साह से मनुष्य की कर्म-शक्ति बढ़ती है और सुन्दर वस्तुओं की प्राप्ति करते समय उसे उत्साह का अनुभव मिलता है। अतः किसी कार्य को उत्साह के साथ करना चाहिये और कर्म-फल की आशा नहीं रखनी चाहिये। स्वार्थहीन तथा निष्काम बुद्धि से उत्साह-पूर्वक कार्य करते समय मनुष्य को जो आनन्द प्राप्त होता है उसे ही सच्चा आनन्द कहना चाहिये। यदि हमारा मन किसी विशेष विषय में उत्साहित रहता है तो अन्य काम करते समय भी हम अपना उत्साह दिखा सकते हैं। उत्साह कर्म-भूमि का स्वर्गीय आनन्द है। इस प्रकार उत्साह भाव का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। शुक्लजी ने अपनी लेखनी द्वारा जिन-जिन विषयों को स्पर्श किया है, उनको स्वर्णमय ही बनाया है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी 'लोभ', 'क्रोध' आदि मानसिक दशाओं पर लिखा है, पर उन्होंने इन मानसिक अवस्थाओं का परिचय मात्र दिया है। परन्तु शुक्लजी ने 'क्रोध', 'लोभ', 'भय', 'उत्साह',

'करुणा' आदि मनोभावों पर लिखकर यह दिखाया कि मनुष्य के जीवन में इन भाव-वृत्तियों को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उन्होंने इन मनोभावों की उपयोगिता तथा सामाजिकता पर प्रकाश डालकर लोक-व्यवहार में उनको श्रेष्ठ स्थान दिया है। अर्थात् इन मनोभावों का विश्लेषण करते समय उनको अपने अनुभवों तथा अध्ययन का बहुत उपयोग हुआ है। शुक्लजी ने अपने निबन्धों के उद्गमों का संकेत 'चिन्तामणि' (पहला भाग) शीर्षक अपने निबन्ध-संग्रह के 'निवेदन' में दिया है।

सत्य और न्याय के नाम पर

प्रभाकर माचवे

आधुनिक हिन्दी निबन्ध-साहित्य में माचवेजी के ललित या व्यक्तिगत निबंधों को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। मराठी के लघु-निबन्ध (ललित-निबन्ध) की का प्रभाव इनके निबन्धों में दिखाई पड़ता है। जब इनके निबन्ध कथात्मक शैली का रूप लेते हैं तब उनमें सांकेतिकता तथा प्रतीकात्मक शैली का भी दर्शन होता है। इनके निबन्धों के बीच-बीच में—'हे ईश्वर ! जग है नश्वर, फिर भी शाश्वत है रिश्वत; कुछ भी हो लँगड़ा पलायनवादी नहीं हो सकता है, आदि वक्रतापूर्ण वाक्यों की भरमार मिलती है। प्रस्तुत 'सत्य और न्याय के नाम पर' शीर्षक निबन्ध में माचवेजी ने सत्य और न्याय के नाम पर चलनेवाली बातों का विश्लेषण किया है। सत्य की कोई ठीक व्याख्या नहीं मिलती और एक का सत्य दूसरे के लिए असत्य भी हो सकता है। सत्य कड़आ होता है, इसलिए सत्य बोलने में बहुत कष्ट होता है और कभी-कभी किसी से झगड़ा भी मोल लेना पड़ता है। परन्तु आजकल सत्य के नाम पर अन्यायपूर्ण बातें ही अधिक होती हैं। सत्य के नाम पर लोग क्या-क्या कर बैठते हैं, इसका सुन्दर विश्लेषण इस लेख में मिलता है।

भोर का तारा

जगदीश चन्द्र माथुर

आधुनिक युग में एकांकी नाटकों का बहुत प्रचार हो रहा है। जनता में रेडियों का प्रचार होने के कारण रेडियो नाटक भी लिखे जाने लगे हैं। आधुनिक एकांकी नाटककारों में जगदीश माथुरजी के नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हैं। प्रस्तुत 'भोर का तारा' एकांकी एक बहुत विख्यात रचना है और उसका अभिनय रंगमंच पर होता रहता है। प्रस्तुत एकांकी में गुप्तकाल के एक कवि का चित्र खींचा गया है और एक कवि के गान में कितनी शक्ति होती है इसका परिचय मिलता है। उज्जयिनी का 'शेखर' नामक कवि सम्राट स्कन्दगुप्त के देवदत्त नामक मंत्री की बहन छाया से प्रेम करता है। पहले से ही छाया शेखर की कविता की ओर आकर्षित हुई थी। एक उत्सव के अवसर पर सम्राट स्कन्दगुप्त ने कुछ लोगों को बुलाया था। उनमें छाया भी सम्मिलित थी। उसने वहाँ शेखर के कुछ गीत सुनाये। इससे शेखर का राजदरबार में प्रवेश हुआ। बाद में उसका विवाह छाया के साथ होता है। बाद में उसने 'भोर का तारा' नामक एक महाकाव्य लिखा और उसे राजदरबार में सम्राट की सेवा में ले जाने का निश्चय किया। सम्राट ने छाया के भाई देवदत्त को तक्षशिला के क्षत्रिय वीरभद्र के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा था। वहाँ वह हार जाता है और उसे वीरगति प्राप्त होती है। उसी समय हूणों का सरदार तोरमाण भारत पर चढ़ आता है। शेखर का मित्र माधव, जो-गुप्त-साम्राज्य में एक कर्मचारी भी है, छाया और शेखर से सहायता चाहता है। भीख के रूप में ही वह दोनों की सहायता लेना चाहता है। माधव यह चाहता है कि शेखर अपनी ओजमयी कविता के द्वारा गाँव-गाँव में जाकर एक ऐसी आग फैला दे जिससे हजारों और लाखों भुजाएँ अपने देश और सम्राट की रक्षा के लिए हाथ में शस्त्र लें। शेखर का देश उससे यही बलिदान माँगता था। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रंथ "भोर का तारा" को उठाकर फाड़ता है और अग्नि में डाल देता है। वह अग्नि की लपटों की ओर देखता है और रूखी हँसी के बाद

अपने देश की सेवा करने के लिए बाहर चल देता है। शेखर अपने गीतों द्वारा जन-समूह को उत्तेजित कर जनता को लड़ने के लिय तैयार करता है। इस प्रकार शेखर—अब तक का भोर का तारा—प्रभात का सूर्य हो जाता है। जब तक उसकी कविता राजदरबार तक ही सीमित थी तब तक वह भोर का तारा था और जब वह अपने देश की रक्षा करने के लिये उसको उपयोग में लाता है तब वह प्रभात का सूर्य होता है। यह साहित्यिक एकांकी रंग-मंच की दृष्टि से बहुत ही सफल रचना है। केवल दो दृश्यों द्वारा नाटककार ने कथा-वस्तु को इस ढंग से उपस्थित किया है कि कथा की सूक्ष्म से सूक्ष्म धारा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। एकांकी के लिए शीर्षक चुनने में माथुरजी ने अपने कवि-हृदय का भी परिचय दिया है।

बाबू गुलाबराय

पद्मसिंह शर्मा

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' हिन्दी के एक अच्छे लेखक हैं। उन्होंने हिन्दी के अनेक साहित्यकारों से मिलकर उनके जीवन तथा साहित्य के आन्तरिक रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर अनेक 'इन्टरव्यू' लिखे हैं। उनके इन लेखों के कारण हिन्दी में 'इन्टरव्यू' एक नया साहित्य-प्रकार प्रचलित हो रहा है। 'इन्टरव्यू' लेख में साहित्यकार के बारे में अनेक बातों का तथ्य मिल जाता है और उसके समकालीन साहित्य का दृष्टिकोण भी उसके शब्दों में मिलता है। 'इन्टरव्यू' लेने के लिए जब कोई साहित्य-सेवी किसी साहित्यकार के पास जाता है तब वह उससे अनेक प्रश्न पूछता है और उसे उत्तर भी मिलते हैं। इन प्रश्नों को उनके उत्तरों के साथ एकत्रित कर उसे एक लेख का रूप दिया जाता है। इस प्रकार के लेखों द्वारा साहित्यकार के बारे में अनेक उपयुक्त तथा रोचक बातें मालूम होती हैं और उसके साहचर्य का अनुभव पाठकों को मालूम होने लगता है। बाबू गुलाबरायजी हिन्दी के एक आलोचक हैं और सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में उनकी 'काव्य के रूप' और 'सिद्धान्त और अध्ययन' शीर्षक कृतियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बाबूजी ने अधिकतर विद्यार्थियों के लिए ही लिखी है। इसलिए बाबूजी के जीवन तथा उनके साहित्यिक दृष्टिकोण से परिचित रहना उनके लिए परम आवश्यक है। इस लेख में हिन्दी की गति-विधि की भी बातें मिलती हैं।

सावधानी की आवश्यकता

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के एक प्रौढ़ तथा प्रथम श्रेणी के आलोचक हैं। द्विवेदी जी ने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया है, इसलिए वर्तमान साहित्य की विभिन्न वृत्तियों पर वे विचार कर सकते हैं और उनके विचारों में मौलिकता के दर्शन मिलते हैं। रवीन्द्र और अरविन्द जैसे सांस्कृतिक विचारों के व्यक्तियों की विचार-धारा का प्रभाव उनके समूचे साहित्य पर पड़ा है। साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा का विवेचन करते समय वे हर बात में जीवन की एक विशेष शक्ति देखते हैं। साहित्य का जीवन के साथ कितने निकट का सम्बन्ध होता है और कलाकार की प्रतिभा पर देशकाल का कैसा प्रभाव पड़ सकता है इसका सुन्दर विश्लेषण उनके आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है। द्विवेदीजी ने अपने 'सावधानी की आवश्यकता' शीर्षक निबन्ध में भारत के तरुण साहित्यकारों का लक्ष्य भारत की सम्पूर्ण उन्नति पर केन्द्रित किया है। उनका देश के तरुण साहित्यकारों से यह अनुरोध है कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में ऐसे नवीन अमृत का संचार करें कि वह दृढ़चेता व्यक्ति की भाँति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिए उठ खड़ा हो। द्विवेदीजी ने तरुण साहित्यकारों को इस बात का भी इशारा दिया है कि उनके लेख के प्रत्येक शब्द का मूल्य है और उनका हर एक शब्द करोड़ों आदमियों को प्रभावित करने के उद्देश्य से ही लिखा गया है।

कला का सौन्दर्य

बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे

साधारण कौशल के लिए भी कला शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन प्रस्तुत लेख में कला (ललितकला) के व्यापक रूप पर विचार किया गया है। ईश्वर और मनुष्य अपनी-अपनी सृष्टि के कलाकार हैं और उनकी कला-

सृष्टि में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सौंदर्य का दर्शन होता है। प्रत्यक्ष सौन्दर्य को वाह्य सौन्दर्य भी कह सकते हैं। उसी प्रकार अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को आन्तरिक सौन्दर्य की भी उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार लोभ और प्रीति में अन्तर है उसी प्रकार बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य में भी अन्तर है। आन्तरिक सौन्दर्य में हृदय-तत्व मुख्य है और उसका सम्बन्ध प्रेम, वेदना, विरह आदि मनोभावों से अधिक रहता है। इन मनोभावों का सम्बन्ध अतीत से भी रहता है, इसलिए कलाकार अपने अतीत को पुनः अभिनव रूप में देखने के लिए सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण करता है। अतीत के सौन्दर्य की विधि हमारे वर्तमान तथा भविष्य को उज्ज्वल बनाने में सहायक हो सकती है। कला के इस रूप में सौन्दर्य के विराट और कोमल रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। विराट सौन्दर्य में गम्भीरता तथा कोमल सौन्दर्य में मृदुलता मिलती है। इन दोनों के मधुर मिलन में ही सौन्दर्य की चिरशान्ति का दर्शन होता है और इस चिरशान्ति के भीतरी सत्य की अभिव्यक्ति करना कला की पूर्णता है, तथा यही उसका सच्चा सौन्दर्य है।

काव्य-सुषमा

(टिप्पणियाँ)

प्राचीन कवि

कबीर

निर्गुण साधक कवियों में महात्मा कबीरदास का स्थान बहुत ऊँचा है। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु उन्होंने अपने युग की माँग के अनुसार समाज सुधार के पक्ष को अपनाया। उन्होंने मुसलमानों तथा हिन्दुओं की खराब प्रथाओं की निन्दा करके दोनों के लिए एक सामान्य धर्म तथा भक्ति-मार्ग दिखाया। कर्मकांड और बाह्याचरण को प्रधानता देने वाले मुल्लाओं तथा पण्डितों का उन्होंने विरोध किया। कबीरदास भक्त थे और कवि की प्रतिभा उनमें कम थी। वे एक अक्खड़ तथा मनमौजी वृत्ति के सन्त थे। कबीरदास की वाणियों का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध हैं। बीजक के तीन भाग किये गये हैं—रमैनी, शब्द और साखी। उन्होंने अपने पदों और साखियों द्वारा समाज का सुधार करने का प्रयत्न किया। उनकी रचनाओं में रस, अलंकार तथा कवि की प्रतिभा की कमी है लेकिन उनके विचारों में भावों की गहराई है। रहस्य-वादी कवियों में उनका स्थान ऊँचा है।

सूरदास

सूरदास भक्तिकाल की कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रमुख कवि हैं। कबीरदास के समान सूरदास के सामने कोई सामाजिक प्रश्न नहीं था। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण का लोकरंजनकारी रूप लोगों के सामने रखा। उनका प्रधान ग्रंथ 'सूरसागर' है और उसमें उनके उपास्य श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन मिलता है। उनका मुख्य विषय बाल-लीला, रास, चीरहरण आदि कृष्ण-लीलाएँ हैं। उनकी रचनाओं में वात्सल्य, शृंगार और भक्ति रस को प्राधान्य मिलता है। सूरदास ने अपने लीला-गान में श्रीकृष्ण का प्रेममय रूप ही सामने रखा है। 'सूरसागर' का भ्रमर गीत बहुत ही मर्मस्पर्शी है। इसमें

गोपियों की विरह दशा का सुन्दर वर्णन मिलता है। भ्रमर-गीत में गोपियों के तर्कों द्वारा निर्गुणभक्ति का विरोध किया गया है। विरह सम्बन्धी जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं उनका वर्णन सूरदास ने बहुत ही कलात्मक ढंग से किया है। सूरदास के द्वारा भी ब्रजभाषा को परिष्कृत तथा साहित्यिक रूप देने का अच्छा प्रयत्न हुआ है। सूरदास का स्थान हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी महत्व-पूर्ण है। हिन्दी साहित्य में उन्हें सूर्य की उपमा दी गई है। सच कहा है--'सूर सूर तुलसी शशी उडुगन केशवदास।'

तुलसीदास

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास राम-भक्ति शाखा के अग्रगण्य कवि हैं। उन्हें विश्व कवियों में भी स्थान दिया जा सकता है। वे काव्यकला के श्रेष्ठतम आचार्य माने जाते हैं। उनका 'रामचरित मानस' प्रधान ग्रन्थ है जिसमें श्रीराम के पूरे जीवन का चित्रण मिलता है। तुलसीदास के उपास्य राम थे और उनकी उपासना या भक्ति दास-भाव की थी। उनकी रचना में लोकमंगल की भावना मिलती है। उनकी रचनाओं में समन्वय की भावना मिलती है। उन्होंने अपनी रचनाओं के बीच-बीच में समाज, साधना, साहित्य, लोक व्यवहार आदि के सामंजस्य का प्रदर्शन किया। उनकी भक्ति पद्धति में सर्वांगपूर्णता का दर्शन होता है। उनकी भक्ति-पद्धति का कर्म या ज्ञान से विरोध नहीं है। उन्होंने जिस प्रकार लोक-धर्म और भक्ति-साधन में सामंजस्य दिखाया, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच-बीच में भी सामंजस्य निर्माण किया। उनकी भक्ति-पद्धति में लोक-संग्रह की भावना थी। 'रामचरित मानस' में तुलसीदास केवल कवि के रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी सामने आते हैं। प्रस्तुत 'श्रीरामजी का प्रजा को उप-देश' शीर्षक भाग 'रामचरित मानस' के उत्तरकांड से लिया है। इसमें श्री रामजी सभा में अपने नगरवासियों को उपदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार तुलसीदास अपने उपास्य राम के मुख से अपने भक्ति मार्ग की बातें सामने रखते हैं। 'श्रीराम गीता' के रूप में इस अंश को माना गया है।

मीराँबाई

मीराँबाई राजस्थानी की कवियित्री हैं और उनकी गणना सगुणोपासक कवियों में की जाती है। उन्होंने अपने आराध्य श्रीकृष्ण को प्रियतम, पति और स्वामी के रूप में मानकर माधुर्य भाव से उनके गुणों की अभिव्यक्ति अपने पदों में की है। मीराँबाई ने भी श्रीकृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन नहीं किया, वरन् अपने हृदय की विरहिणी की भावनाओं को भक्ति-सूत्र में बाँधकर श्रीकृष्ण की आराधना की। उनके पदों में कभी-कभी उनके उपास्य श्रीकृष्ण सूरदास के बाल-कृष्ण की भाँति सगुण और कबीर के राम के भाँति निर्गुण दिखाई पड़ते हैं। वह एक कोकिला की भाँति अपने गिरधर गोपाल के गीत गाती हैं। उनकी रचना में शृंगार रस के सुन्दर भाव मिलते हैं, लेकिन उनमें वासना की दुर्गन्धि नहीं मिलती। उनके पदों में नारी हृदय की सच्ची अनुभूति होने के कारण विरह के प्रसंग बहुत ही मर्मस्पर्शी हुए हैं। मीराँबाई में विरही राधा का स्वाभाविक रूप चित्रित हुआ है। उनके काव्य में सगुण और निर्गुण भक्ति का समन्वय दिखाई देता है।

बिहारीलाल

हिन्दी-साहित्य के रीति-ग्रन्थकारों में बिहारी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके दोहे हिन्दी साहित्य में अमर रत्न माने जाते हैं। इनके दोहों का संग्रह 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हैं। शृंगार-रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और सन्मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना शायद किसी अन्य ग्रन्थ का नहीं हुआ होगा। बिहारी ने अपने इन दोहों द्वारा गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया है। किसी ने ठीक ही कहा है--

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, बेधें सकल शरीर।"

अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से बिहारी के दोहे अनूठे हैं। बिहारी में कवि की प्रतिभा नहीं है। उनकी रचनाओं में बुद्धितत्व को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण उनके भाव मनुष्य के हृदय-पक्ष में किसी प्रकार के लय या संगीत की झंकार पैदा नहीं कर सकते। उसी प्रकार उनके भावों में उदात्त रूप नहीं मिलता। बिहारी की रचनाओं में शृंगार-रस प्रमुख होने पर भी उनमें ऊँचे प्रकार के प्रेम का चित्रण नहीं मिलता। फिर भी बिहारी की प्रतिभा हिन्दी के कवियों को प्रेरणा देने का कार्य करती रही है।

घनआनन्द

महाकवि घनआनन्द रीति-काल में हुए, लेकिन रीतिबद्ध कवियों से उनका पंथ अलग था। वे प्रेम के उन्मत्त गायक थे। उन्होंने बिहारी के समान कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा परन्तु अपनी रचनाओं में कसावट तथा चमत्कार लाने का प्रयास किया। वे काव्यमूर्ति थे और उन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति करने के लिये हृदय का पूर्ण सहयोग लिया। उनकी कविता में हृदय का वेग ही काव्य का रूप धारण करता है। उन्होंने अपने को रीतिकालीन कवियों से अलग किया और इस प्रकार घोषणा की—'लोग है लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कबित्त बनावत। 'कविता ने उन्हें निर्माण किया। वे कभी कविता के निर्माण में हैरान नहीं हुए। वे सुजान नामक नर्तकी के प्रति आकर्षित हुए थे, लेकिन अपने प्रेम को अपने हृदय में ही रखकर उसकी पीड़ा को अनुभव करने लगे। उनका प्रेम तो राजमार्ग के समान विस्तीर्ण तथा प्रशस्त था। उन्होंने प्रेम के सरल मार्ग का इस प्रकार अपने शब्दों में वर्णन किया है—'अति सूधो सनेह कौ मारग है जहाँ नेक सयानप बाँक नहीं।' उन्होंने अनेक स्थलों पर यह भी कहा है कि संयोग में भी वियोग रहता है—'यह कैसे संजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यों हूँ बिछोहत है।' प्रेम की विषमता का प्रदर्शन करने के लिने उन्होंने विरोधाभास का भी सहारा लिया है। घनआनन्द व्रजभाषा-प्रवीन ही नहीं भाषा-प्रवीन भी थे। वे अपनी भाषा की गति को भी भाव के अनुकूल मोड़ सकते थे।

आधुनिक रचनाएँ

स्वप्न बन्धन

सुमित्रानन्दन पंत

छायावादी कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त का स्थान ऊँचा है। पंतजी प्रकृति-प्रेमी हैं और उनकी प्राकृतिक-अनुराग की भावना सौन्दर्य-प्रधान से भावना-प्रधान और भावना-प्रधान से ज्ञान-प्रधान होती गई। उनकी कविताओं में प्राकृतिक सौन्दर्य कल्पना का विराट रूप, नारी के प्रति उच्चभावना, दलित समाज के प्रति सहानुभूति, संघर्षमय जीवन की वास्तविकता आदि का कलात्मक चित्रण मिलता है। प्रकृति के किसी विशेष रूप या व्यापार का अध्ययन करते-करते इनका सुकुमार हृदय किसी दार्शनिक तथ्य की ओर मुड़ जाता है। पंतजी ने अपने काव्य द्वारा नई अभिव्यंजना, नई भाषा, नये अलंकार, और नये संगीत को प्रदान कर आधुनिक हिन्दी कविता को आगे बढ़ाया। प्रस्तुत 'स्वप्न बन्धन' शीर्षक कविता में एक स्वप्न-सुन्दरी का चित्र खींचा गया है। यह सुन्दरी कल्पना लोक की मानस-कन्या है और उसने कवि को स्वप्नों के आलिंगन में बाँध लिया है। कवि उसके अपार लावण्य की मधुरिमा से इतना प्रभावित होता है कि यह स्वप्न-सुन्दरी एक देही नारी के रूप में उसे दिखाई पड़ती है। कवि को इस अपार आकर्षण का मर्म समझ में नहीं आता। वह तो इस स्वप्न-देही को इन्द्र-धनुष के रूप में हँसते हुए देखता है।

मुर्झाया फूल

महादेवी वर्मा

आधुनिक काव्य के रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा का स्थान ऊँचा है और गद्य-लेखकों में भी उन्हें महत्वपूर्ण स्थान मिला है। आधुनिक कवियित्रियों में भी उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनके गीत प्रायः वेदना-प्रधान होते हैं। विश्व-वेदना के साथ अपने को मिला देने की प्रवृत्ति महादेवीजी में मिलती है। संसार में जहाँ अन्याय या व्यथा दिखाई पड़ती है वहाँ उनका मन द्रवित हो जाता है। वह किसी को भी दुखी नहीं देख सकतीं। संसार का सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सुख आदि

की क्षणिकता उसके भावुक हृदय को प्रभावित करती है। प्रस्तुत 'मुर्झाया फूल' शीर्षक कविता के द्वारा एक फूल की करुण कहानी उपस्थित की गई है। एक सूख फूल को देखकर कवियित्री के मन में जग की कठोरता के बारे में विचार आते हैं। जब फूल पूर्ण खिल गया था तब मधुप उसके चारों ओर मँडराता रह और पवन उसे अंक में लेकर प्यार कर रहा था। उसी पवन ने आज फूल को जमीन पर गिराया है। इस प्रकार अपना सर्वस्व दान करने वाले फूल के लिए रोने वाला कोई नहीं है। इसलिए कवियित्री यह सोचती है कि दानी फूल के लिए कोई दुखी नहीं होता है तब इस साधारण मनुष्य के लिए कोई भी नहीं रोयेगा।

तुम और मैं

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

छायावादी कवियों में एक विद्रोही कवि के रूप में भी निरालाजी का स्थान अग्रगण्य है। उनके काव्य में शक्ति है और उन्होंने काव्य को संगीत के निकट और संगीत को काव्य के निकट लाने का प्रयत्न किया है। उनकी काव्य-कला पर बँगला-भाषा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अपने देश के प्रति अभिमान, भारतीय नारी के प्रति उच्चभावना, प्रकृति के विराट रूप का चित्रण और दार्शनिक तत्वों की प्रचुरता निरालाजी के काव्य की मुख्य विशेषताएँ हैं। कविता के छन्दों के समान ही उन्होंने सामाजिक बन्धनों के प्रति अपना विरोध दिखाया है। उनमें श्रमजीवियों के प्रति अपार प्रेम है। प्रस्तुत 'तुम और मैं' शीर्षक रचना में रहस्यवाद की झलक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। इस रहस्यात्मक रचना में भारतीय अद्वैतवाद का निरूपण किया है। 'तुम और मैं' में तुलनात्मक अन्तर दिखाने के लिये उन्होंने 'तुम तुंग-हिमालय-श्रृंग और मैं चंचल-गीति सुर-सरिता' 'तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म में मनोमोहिनी माया', 'तुम नभ हो, मैं नीलिमा', 'तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति', 'तुम अम्बर, मैं दिग्वसना' 'तुम नाद-वेद ओंकार सार, मैं कवि-श्रृंगार शिरोमणि' आदि आत्मिक तथा आध्यात्मिक रूप-विधानों से सहायता ली है। निरालाजी की यह एक बेजोड़ रचना है।

दीपावली का एक दीप

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

एक उपन्यासकार के रूप में अज्ञेयजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-साहित्य को समृद्ध किया है। हिन्दी काव्य के क्षेत्र में भी अज्ञेयजी का नाम लिया जा सकता है। संसार की वास्तविकता का चित्रण उनकी कविता में मिलता है। अज्ञेयजी ने अपनी 'दीपावली का एक दीप' शीर्षक कविता द्वारा एक दीप की करुण आत्म-कहानी उपस्थित की है। दीपावली की रात में दीपों की माला में से एक दीप बुझ गया। परन्तु उसके लिए किसी ने कृतज्ञता का भाव नहीं दिखाया। किन्तु कठोर मनुष्य ने दीप को ही दोष दिया क्योंकि एक दीप बुझ जाने से दीपों की माला खण्डित हुई।

है एक पहेली मानव भी!

गोपाल शरण सिंह

गोपाल शरण सिंह हिन्दी काव्य की नई धारा के एक प्रमुख कवि हैं। उनकी कविताओं में मार्मिक उदभावना तथा अभिव्यंजना की विशिष्ट पद्धति का दर्शन होता है। इनकी छोटी-छोटी कविताओं में अनेक दशाओं का विश्लेषण मिलता है। प्रस्तुत कविता में मानव की महिमा पर प्रकाश डाला गया है। मानव का स्वरूप स्वामी, अनुगामी, कामी, बालक, नायक, गायक आदि में मिलता है। उसके हृदय में प्रेम,दया, स्नेह, प्यार आदि मानवी गुण मिलते हैं। परन्तु वह कभी दानव के रूप में भी दिखाई पड़ता है। वह कठोर एवं कोमल भी है। इस प्रकार मनुष्य एक बहुत बड़ी समस्या है।

कवि की मृत्यु

रामधारी सिंह 'दिनकर'

राष्ट्र-कवि के रूप में दिनकरजी की ख्याति बहुत है। उनकी वाणी राष्ट्र-वाणी है और गम्भीर तथा ओजस्वी विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिए वह पूर्ण समर्थ है। उनका दृष्टिकोण प्रगतिवादी है और उनकी रचनाओं में राष्ट्री-

यता की धारा सर्वत्र दिखाई देती है। वीरत्व का दिग्दर्शन उनका प्रिय विषय है। सुकुमार तथा कोमल भावों की मार्मिक व्यंजना उनकी बहुत-सी कविताओं में मिलती है। प्रस्तुत 'कवि की मृत्यु' शीर्षक कविता में कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। कवि की जब मृत्यु होती है तब सब उसकी महिमा गाते हैं। अपनी मृत्यु के बाद ही कवि दिव्य तथा अवतारी पुरुष बन जाता है। लेकिन जब वह जीवित है तब चारों ओर से द्वेष की आँखें उसे देखती हैं। बेचारे को रोने के लिए भी समय नहीं मिलता। इस प्रकार कवि को अपने जीवन-काल में अपार दुख ही मिलता है। वह अपने सर्वस्व का दान करता है। परन्तु उसके बदले में उसे बहुत कम मिलता है। जिस प्रकार प्रेमी विष का प्याला पीकर पिलाने वाले को अपार स्नेह देता है, उसी प्रकार संसार कवि को जो चाहे भेंट दे, लेकिन उसके बदले में वह (कवि) अपने निष्कपट गान ही संसार को देता है।

मिट्टी और फूल

नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा हिन्दी के एक प्रगतिवादी कवि हैं। उनकी रचनाओं में काव्य के नए प्रयोग मिलते हैं। उनकी कविताओं में अभिव्यंजना की सुन्दर शैली तथा भावों का सुन्दर परिष्कार मिलता है। वे मन में अपनी अनेक दुर्बलताओं का अनुभव करते हैं। फिर भी इनकी कविता में एक नया रंग है जो सात्विक होते हुए भी सुन्दर है। प्रस्तुत 'मिट्टी और फूल' शीर्षक रचना एक कथागीत है जिसमें मिट्टी की आत्म-कहानी मिलती है। इसमें मिट्टी अपने जीवन की एक घटना बताती है। एक दिन उसके जीवन में बसन्त आया और उसने उसे चूम लिया। एक फूल का निर्माण हुआ। इस फूल ने मिट्टी से ही जीवन पाया था, लेकिन वह उसे तुरन्त ही भूल गया। एक दिन यह थल का बुलबुला 'फूल' पृथ्वी पर गिर पड़ा और मिट्टी में सदा के लिये मिल गया। इस प्रकार मिट्टी सब के अपराध चुपचाप सहती हुई पड़ी है।

महात्मा जी के महा निर्वाण पर

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

सुमन जी आधुनिक युग के एक सुकुमार कवि हैं। उनके विचार अग्रगामी हैं और उनमें युग का संदेश ध्वनित होता है। मनुष्य-जीवन के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा है और उसकी उन्नति करने के लिये उत्साह भी है। उनके मन में सब को सुखी देखने का मंगलमय स्वप्न है। मानवी मन में उमड़ती हुई भावनाओं को प्रकट करने की प्रतिभा उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रस्तुत 'महात्माजी के महानिर्वाण पर' शीर्षक कविता में सुमनजी के भावुक हृदय का परिचय मिलता है। विश्व के सच्चे प्रेम-पुजारी महात्मा गाँधी के बध का समाचार सुनते सारे ही विश्व में एक प्रकार की हलचल मच जाती है। महात्मा गाँधी की मृत्यु के समाचार पर कवि का विश्वास नही होता। महात्माजी को अभी बहुत कुछ काम करना है, ऐसी स्थिति में उनकी हत्या का समाचार कवि के लिए एक असाधारण घटना बन जाती है। सुमनजी का कहना है कि यह वध मानवता का है जिसमें शान्ति, अहिंसा, समता आदि मानवीय आदर्शों की हत्या की गई है।

एक भारतीय युवक की तेइसवीं वर्ष गाँठ

राजेन्द्र किशोर

हिन्दी के उदीयमान कवियों में राजेन्द्र किशोर का नाम लिया जाता है। जीवन के यथार्थ का चित्रण उनकी कविता में मिलता है। प्रस्तुत 'एक भारतोय युवक को तेइसवीं वर्षगाँठ' शीर्षक कविता में एक भारतीय युवक की समस्याओं का चित्र उपस्थित किया गया है। किसी भी मनुष्य के जीवन में वर्षगाँठ का पर्व-दिवस महत्वपूर्ण होता है। परन्तु भारत की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति इतनी भयंकर है कि हर एक युवक पर घर की जिम्मेदारियों का बोझा बहुत जल्द पड़ता है। बाईस साल तक उसका जीवन बहुत मजे में कट जाता है। परन्तु उसके बाद उस पर घर की जिम्मेदारियों का बोझा पड़ता है। उसके पिता जी बूढ़े हो रहे हैं। उसकी बहन के विवाह का प्रश्न उसकी माँ को सताता है। बाहर उसे नौकरी या धंधा नहीं मिल सकता। ऐसी परिस्थितियों में वह अपनी वर्षगाँट

के पर्व-दिवस के आनन्द की बात नहीं सोच सकता। एक भारतीय युवक की आधुनिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण इस कविता में हुआ है।

फूल को हक़ दो

केदारनाथ सिंह

केदारनाथ सिंह हिन्दी के एक युवक कवि हैं। उनकी कविताओं में सुन्दर भावों का संसार मिलता है। प्रस्तुत 'फूल को हक़ दो' शीर्षक कविता में फूल, बादल, डगर, लहर, माटी आदि अचेतन वस्तुओं के अधिकारों की चर्चा है। मनुष्य के समान निर्जीव वस्तुओं को भी अपनी इच्छाओं के अनुसार खिलने-फूलने का अधिकार देना चाहिए। यही इस कविता का विषय है। यह विषय नया है और एक प्रयोग के रूप में कवि ने इस पर अपने भाव प्रकट किये हैं।

सुषमा

हरिवंश राय 'बच्चन'

हिन्दी में 'हालावादी' नामक नई काव्य-धारा का सूत्रपात करनेवाले कवि बच्चनजी का स्थान आधुनिक कवियों में महत्वपूर्ण है। इनकी यह नई धारा इतनी पनप नहीं सकी, परन्तु हालावादी कवि के रूप में वे प्रसिद्ध हुए। उनकी कविता में वेदना की अधिकता मिलती है। बाद की रचना में उनकी कविताओं के विषय बदल गए हैं। उनकी कविताओं में नए विचारों का भी दर्शन मिलता है। प्रस्तुत 'सुषमा' शीर्षक कविता में बच्चनजी ने सुषमा की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। उन्होंने ज्ञानी, कवि और प्रेमी के द्वारा सुषमा की व्याख्या करवाई है। बाद में एक साधारण आदमी के रूप में अपनी परिभाषा उपस्थित की है। ज्ञानी के अनुसार सुषमा मनुष्य को प्रकाश देती है, कवि के अनुसार सुषमा मनुष्य को उन्मत्त बनाती है और प्रेमी के अनुसार सुषमा मनुष्य को आत्मसात करती है। अन्त में बच्चनजी ने इस बात का निष्कर्ष निकाला है कि जिसके निकट पहुँचते ही मनुष्य को आनन्द मिलता है वही सुषमा है।